* वन्दे जिनवरम् *

सच्चे सुखकी कुंजियां

मि० वाड़ीलालजी लिखित.

ट्रेक्ट नं० २९



की० =) दो आना



सन् १९१५

* वन्दे जिनवरम्।

सच्चे सुखकी कुंजियां।

पहला प्रकरण.

शरद् पूनोकी रात है। चन्द्रमा अपनी सब कलाओंसे प्रकाशित हो रहा है। सफेद चांदनी छिटक रही है। बारह बज चुके हैं। ठंडी २ पवन चल रही है। सब मनुष्य सो रहे हैं। मुझे मालूम होने लगा कि मैं बिलकुल स्वप्नावस्थामें हूं परन्तु मैं कुछ २ सो रहा था और कुछ २ जाग रहा था।

आंख खोलकर मैंने चारो ओर देखा तो एक दिव्य मनुष्य मुझे अपनी ओर आता हुआ देख पड़ा। इस महापुरुषकी भव्य और तेजस्वी आकृतिको देखते ही मैं उसे साष्टाङ्ग प्रणाम किये बिना रह नहीं सका मैं स्वयमेव उसके चरणोंपर गिर गया और मुझे मालूम होने लगा कि मैं किसी दयासागर महा पुरुषके पास मौजूद हूं।

उनके सन्मुख मेरे मुखमेंसे एक भी शब्द न निकला ।

जब उन महात्माने मेरी ऐसी दशा देखी मुझे अपने पास बुलाया । उनके मुखारबिन्दसे निकली हुई सुधावाणीसे मुझे कुछ साहस हुआ और मेरे मुखसे नीचे लिखे हुए वचन प्रकट हुए —

"हे कृपालु देव, हे भक्तवत्सल गुरो ! मैं ज्ञान पानेको बड़ा ही आतुर हूं । ज्ञान अज्ञानके परदे में छिप रहा है । प्रभो ! आपने उस परदेको दूर कर दिया है। जिस कठिन मार्गपर चलकर महात्मा ज्ञानी जन मोक्षपद पानेको समर्थ हुए उसी मार्गमें प्रकाश कर आपने दासका अत्यन्त उपकार किया है । यह आपका शिष्य आपके दिखलाये हुए मार्गपर निःशङ्क होकर चलनेको और विशेष ज्ञान पानेको उत्सुक है। इसलिये हे दयासागर गुरो ! ऐसे विकट मार्गपर चलनेको और अनन्त ज्ञान लाभ करनेको इस दासको पूर्ण धैर्य दीजिये ।"

गुरुदेव भी सहज दयामय स्वभावसे मुझपर कृपाकर प्रेमाश्रुपूर्ण आंखोंसे मुझे देखकर बोले,

"हे शिष्य, हे वत्स ! तूने इस कठिन मार्गपर चलनेका जो निश्चय किया है केवल अपने लाभके लिये इस विकट मार्गपर चलनेको तू तैयार हो । गुरु तो

केवल मार्ग बता सकते हैं परन्तु उसपर चलनेका काम तो तेरा ही है।

"राजमार्ग सबके लिये एक है परन्तु उस मार्गपर जानेके लिये प्रत्येक मनुष्यके अधिकार के अनुकूल अलग २ गलियां हैं। हे दृढ हृदयवाले शिष्य ! तुझे कौनसा मार्ग लेना है? तुझे चार प्रकारके ध्यानका मार्ग ग्रहण करना है या छह सद्गुणोंके मार्ग पर चलना है?

"मोक्ष रूप उच्चपद पानेके लिये चार प्रकारके ध्यानका मार्ग सीधा नहीं है। जो मनुष्य इस मार्गपर चलकर अपनी इष्टसिद्धि कर सके उसने सचमुच बड़ा भारी काम किया। परन्तु केवल ज्ञान रूपी सातवी सीढी पर जिससे चढ सकते हैं ऐसा छह सद्गुणोंका मार्ग तो इससे भी कठिन है। हे शिष्य ऐसा होनेपर भी तू कुछ चिन्ता न कर, तू घबराहटको दूर कर और हिम्मत बांध ले, क्योंकि पहिले हम भी तेरे जैसे मामूली मनुष्य ही थे। आत्म शक्तिमें विश्वास रखकर सन्मार्ग पर चलनेका यत्न करने से हम इस स्थितिको पहुंचे हैं। इस वास्ते धैर्य रखना चाहिये और कदाचित मार्गमें विघ्न पडे तो भी उससे विचलित न होना चाहिये।"

"हे मुमुक्षु ! तुझे सात दरवाजोंमें होकर जाना पड़ेगा। इन दरवाजो पर चार देवके काम, क्रोध,

लोभ, मान, माया, अज्ञान और अश्रद्धा ये सात दूत बैठे हुए हैं । इनके साथ तुझे वीरता पूर्वक लड़ना पड़ेगा । हे शिष्य ! आत्मशक्तिमें श्रद्धा रखनेवाले ! धैर्य रख । उस नियमको अपने हृदयसे एक क्षणके लिये भी दूर न कर । सन्मार्गपर चलते हुए कितने विघ्न, कितनी ही बाधायें, कितने ही सस्कृत सहने पड़े तो भी किये हुए दृढ निश्चयसे न हिल । जो तू एक दफे भी सम्यक्त पा सके, एक दफे भी सद् और असद्, शाश्वत और क्षणिक वस्तुके भेदको समझ सके एक दफे भी निर्वाण तक बहते हुए निर्मल झरनेमें पैर रख सके तो फिर यह अच्छी तरह समझ ले कि अब तेरा जन्म मरणसे मुक्त होनेका समय आपहुंचा है" ।

"हे दैवी ज्ञानके जिज्ञासु ! आंख उठा और देख कि तुझे क्या क्या दिखाई देता है? और देखकर मुझे कह" गुरुदेवने पूछा ।

"हे परम कृपालु देव ! मायाके समुद्र पर अज्ञान का परदा पड़ा हुआ मुझे देख पड़ता है । मेरी निगाह के सामने वह समुद्र विशेष २ गहरा होता जाता है । परन्तु आपके हाथके हिलने मात्रसे वह अदृश्य होता हुआ देख पड़ता है । सर्व जीवो अज्ञानकी छाया मिटती जाती है । वह बढकर अन्धकारमें लीन हो गई । दयानिधे ! अब तो मुझे यह मार्ग साफ मालूम होता

है । उसकी समतल भूमि मिथ्यात्व-अज्ञानमें भरी पड़ी है और उसका शिखर निर्वाणके तेजसे प्रकाशित हो रहाहै । कभी न देखे ऐसे उद्यानके सूक्ष्मसे सूक्ष्म दरवाजोंपर अब मेरी निगाह पड़ी है" मैंने निवेदन किया।

गुरुदेव बोले "हे शुद्ध शिष्य! तू जिन दरवाजों को देख सका है वेही तेरे कल्याणके लिये हैं इन दरवाजों मेंसे जो निःशंक हो चले जाते हैं वेही माया रूपी भवरजाल वाले संसार समुद्रको तैरके पार होजाते हैं । प्रत्येक दरवाजे को खोलनेकी एक सुवर्णकी कुंजी है । तुझे योग्य अधिकारी समझ कर वे कुंजियां तुझे देता हूं । तू उनका अच्छा उपयोग करना दान, शील, शान्ति, वैराग्य, वीर्य, ध्यान, और प्रज्ञा (ज्ञान) ये सातों दरवाजोंकी क्रमश सातों कुञ्जियां हैं । इन सातों कुञ्जियों से सातों दरवाजे खुल जायगे । तब तू इन दरवाजोंमें से निकलेगा तीनों कालके-भूत भविष्यत् वर्त्तमानके सब पदार्थ और सब भावोंको जान सकेगा ॥ परन्तु हे शुभमतिधारी शिष्य तू अपने ज्ञानका सदुपयोग करना और जो तेरे मनुष्य बन्धु आध्यात्मिक ज्ञानमें तुझसे नीचे के दरजे में हों उन्हें तू सहायता देना, ज्ञान गर्वके लिये नहीं है परन्तु अज्ञानको दूर करने के लिये है, इस सिद्धान्त को अपने हृदय से कभी दूर न करना ॥ अधिकारी ज्ञान

कर दिये हुये ज्ञानका पात्र होना और इन्द्रियों के विषयसे विमुख होकर एकाग्र चित्तसे प्रत्येक कुञ्जीपर खूब मनन करना यद्यपि ये कुञ्जियां मामूली सी मालूम होती हैं परन्तु तुझे इनमें बहुत कुछ लाभ मिलेगा ॥ आत्मशक्तिमें तू दृढ विश्वास रखना और इस मार्गपर चलते हुये तुझे जो जो शक्तियां और सिद्धियां मिलें उनका उपयोग जन समाज के कल्याणके लिये करना,,

इन शब्दोंको सुनते हीं मेरे आनन्दकी सीमा न रही । बार २ मैं गुरुदेव की प्रार्थना करने लगा,

इन शब्दोंका अनुभव होजानेसे जो आनन्द और संतोष मुझे हुआ उसका वर्णन करने को मेरे पास पूरे २ शब्द नहीं हैं, परन्तु उस स्वप्न का विचार करते २ मैं गहरी नींदमें सोगया जब मैं प्रात काल उठा तो गुरुदेवकी दिव्य मूर्ति और उनका उपदेश मेरे हृदय के सामने आगये मैं अपने घर गृहस्थी के काममें लगू उस के पहले उस स्वप्नमें गुरुदेव ने जो मेरे आध्यात्मिक जीवन पर असर किया है उसे कैसे वर्णन करूं यह इस लेखक को सूझ नहीं पडता । मैं चाहता हूं कि सपूर्ण संसार उस उपदेश का गंभीर अर्थ यथार्थ रीति से समझ सके और वैसेही उसमें दिखलाये हुये मार्ग का अनुभव करने योग्य हो जाय । एकके बाद एक इसरीति से मैं उन सात कुञ्जियोंके गर्भित अर्थका विचारकरू गा ।

दूसरा प्रकरण।

१ म कुञ्जी–दान



गुरु दर्शनका अच्छा योग मिला और उनका किया हुआ उपदेश अच्छे भाग्यसे मुझे मात काल में याद रहा ये सब प्रथम प्रकरण में बता गया हूं। जिन सात दरवाजोंसे होकर निकलने से भूत भविष्यत् और वर्त्तमान तीनों काल सम्बन्धी सम्पूर्ण ज्ञान मिलता है उन दरवाजोंके खोलनेमें काम दें ऐसी सात सुवर्णोंकी कुञ्जियों के विषयमें हमें विचार करना है। उनमें पहली कुञ्जी दानकी है। इसीके विषयमें इस प्रकरणमें विचार करेंगे

दानकी व्याख्या।

जैनधर्म में धर्मके जो चार प्रकार बताये गये है उन में दान को पहिला पद दिया गया है। संस्कृत 'द,' धातुसे दान शब्दकी उत्पत्ति हुई है, 'द,' का अर्थ है देना। यहां पर दान शब्द उसके संकुचित अर्थ में नहीं है। परन्तु जिस प्रेमसे—जिस हृदय की आर्द्रता से मनुष्य दान करने को प्रेरित होता है उन सब बातों का दान शब्दमें समावेश होता है यदि और रीतिसे कहें तो "देना और देनेकी वृत्ति," ये दोनों

भाव दान शब्द से समझने की आवश्यकता है । प्रेम से मनुष्य दूसरे मनुष्य का दुःख दूर करने का यत्न करता है । दान का हेतु भी जिन २ वस्तुओ के अभाव से मनुष्य इस जगत् में दुःख पाते हैं उन २ वस्तुओके दान से मनुष्य का दुःख दूर करना है ।

दानकी आवश्यकता ।

स्वरूपसे सत्तासे सब आत्मायें समान हैं । परन्तु उन्नतिके क्रम में अलग २ सीढ़यो पर स्थित होने से और जीवोंके कर्म भिन्न २ होने से उनकी स्थिति में भिन्नता जान पड़ती है । कितने ही सुखी जान पड़ते हैं तो कितने ही दुःखी, कितनेही विद्वान् हैं तो कितने ही मूर्ख, कितने ही सद्गुणी हैं तो कितने ही दुर्गुणी, कितने ही बलवान् और कितने ही निर्बल देख पड़ते है । जगत् की ओर दृष्टि करनेवाले को ये भेद सहज ही मालूम होजाते हैं । इसलिये आवश्यक है कि जो दुःखी हैं जो अज्ञान हैं, जो निर्धन है, जो दुर्गुणी हैं और जो निर्बल है उनकी सहायता की जाय और यह सहायता दानसे हो सकती है ।

मनुष्यों के तीन प्रकार ।

कार्य-कारणका अचल नियम (जिसको धर्मशास्त्र में कर्म नामसे लिखा है) के अनुकूल संसारमें तीन प्रकारके मनुष्योंकोहम देखते हैं ।

(१) कुछ मनुष्य तो ऐसे हैं जो जन्मसे ही नीतिशाली और धनवान् मनुष्यों में बढ़े हुए हैं और वे स्वयं सदाचारी और धनवान् हैं ।

(२) कुछ मनुष्य ऐसे हैं जो गरीब माता पिता के घर उत्पन्न हुए हैं और जिन्हें शिक्षा पानेका और नीति सिद्धान्तोंके समझनेका अवसर नहीं मिला और न नीतिके अनुकूल चलनेका अवसर मिलता है और वे स्वयं निधन हैं ।

(३) जिन्होंने उत्तम स्थितिमें जन्म पाया है परन्तु कुकर्मों के कारण बुरी दशामें आ पड़े हैं कुछ ऐसे पतित पुरुष हैं ।

इनके प्रति हमारा कर्त्तव्य ।

जो धनवान् मनुष्य सदाचारी हैं अर्थात् जो प्रथम श्रेणीके मनुष्य हैं उन्हें देखकर हमें चाहिये कि हम प्रसन्न हों और उनसे किसी प्रकारकी ईर्ष्या न करें । द्वितीय श्रेणीके जो गरीब मनुष्य हैं उनका दुःख दूर करनेके लिये हमें यथाशक्ति दान देना चाहिये और उन्हें प्रीति और नीति के सिद्धान्त बताकर सन्मार्ग पर लगा देना चाहिये । शक्ति होते हुए भी दान देनेकी सामर्थ्य होने पर भी जो दान न दिया जाय तो वह एक प्रकारका पातकीपन है । गुप्त दान

नामक आध्यात्मिक पुस्तकमें लिखा है कि Inaction in an act of mercy is an action in a deadly sin अर्थात् जो दयाके कामोंको नही करते हैं वे भयंकर पाप कर्म करने वाले हैं इस लिये अपनी २ शक्ति के अनुसार दुखियाका दुःख दूर करनेका यत्न करना चाहिये । तृतीय श्रेणीके मनुष्य जो कुमार्गके पथिक हो गये हैं और अधम स्थितिमें आ पड़े हैं वे भी दयाके पात्र होने चाहिये । क्योंकि सद्धर्मको न जाननेके कारण ही उनकी ऐसी प्रवृत्ति हुई है इसी कारण ऐसे अभागी मनुष्य धिक्कार के पात्र नही परन्तु दयाके पात्र हैं॥

दान के भेद ।

हम अब इस बात पर विचार करते हैं कि दान कितने प्रकारसे होता है । संसारकी स्थूल वस्तुओं का दान, विद्या दान, धर्मदान और अभयदान, जिस मनुष्यके शरीर में भूखका खड्डा पड़ रहा हो, जिस का कण्ठ प्यास से सूख गया हो या जो रोगी हो ऐसे मनुष्य का दुःख दूर करनेकी सब से पहले आवश्यकता है, क्योंकि जबतक मनुष्य का शरीर अच्छा न होगा तबतक विद्या और धर्मकी ओर उसकी रुचि न होगी इस लिये अन्न-जल और औषधि से उनका दुःख दूर करना चाहिये, विद्यादान दानकी महिमा अन्नदान से भी अधिक मानी है, लिखा है कि—

अन्नदानं परं दानं विद्यादानमतः परम्।
अन्नेन क्षणिका तृप्तिर्यावज्जीवं तु विद्यया॥

अन्न दान यह उत्तम दान है परन्तु विद्यादान उससे भी अधिक है, क्योंकि अन्नसे थोड़ी देरके लिये सन्तोष होता है परन्तु विद्या से जीवन भर सन्तोष होता है। विद्यासे जो मानसिक सुख विद्याविलासियो को मिलता है इन्द्रियोंके विषयोंमें लिप्त हुए मनुष्यो को उसका विचार स्वप्नमें भी नहीं हो सका। धर्म का दान विद्यादान से भी श्रेष्ठ है। लौकिक व्यवहार में उपयोगी ज्ञान से मनुष्य अपने कुछ दु खो को दूर कर सका है परन्तु जन्म मरणके चक्रोंसे मुक्त होकर निर्वाणके नित्य आनन्दको पानेके लिये तो धर्मसिद्धान्त का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। यही कारण है कि धर्म सिद्धान्त का उपदेश करने वाले गुरुकी इतनी महिमा है। मनुष्य उन्हें पूज्य भावसे देखते आये हैं और अब भी देखते हैं। अभय दान की महिमा भी शास्त्रोंमें खूब लिखी हैं। इसका कारण यह है कि मनुष्यमात्र को अपने शरीर से ममता होती है। बच्चा हो या बुड्ढा कोई मरना नहीं चाहता। मरते हुए प्राणीको अभय दान देकर बचाना बड़ा उत्तम काम है। ऐसे बचाने वाले मनुष्य को शास्त्र में बड़ा उपकारी

आध्यात्मिक और ज्ञान दान ।

(१) अज्ञानी मनुष्योंको ज्ञान देना (२) बुद्धिमें आवे ऐसा उपदेश कर धर्ममें शंका करने वाले मनुष्यों के चित्त का समाधान करना (३) दुराचरणोंमें पड़े हुए मनुष्यों को रीतिसे समझा बुझाकर कुमार्ग से दूरकर अच्छे मार्गपर लगा देना (४) मानसिक पीड़ा से चिन्ता उद्वेग दुखी मनुष्यों को कर्म के सिद्धांत को समझाकर शान्त करना (५) अपराधियोंको उन के अज्ञान का दोष मानकर क्षमा करना (६) सबका कल्याण हो और सब सन्मार्ग पर चलें ऐसी प्रार्थना करना जैसा कि बड़े शांति पाठमें लिखा है—

शिवमस्तुसर्वजगतःपरहितनिरताभवन्तुभूतगणाः
दोषःप्रयान्तुनाश सर्वत्र सुखिनोभवन्तु लोकाः॥

सब जगत् का भला हो परोपकार में सब संसार लगे दोष नाश दूर हो सब जगह सब लोग सुखी रहे।

(७) जो धर्म में शिथिल हो उनको शुद्ध उपदेश कर धर्म में दृढ करना (८) जो दृढ हो उन्हें खूब दृढ़ करना (९) किसी पर झूठा कलंक न लगाना और जो कोई दोष सच्चा हो तो भी उसे प्रकट न करना परन्तु दोषी को शुद्ध मार्ग पर लानेका यत्न करना (१०) मनुष्य को निर्भय बनाना ये सब आ-

ध्यात्मिक विषय के अनुकूल दान है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है जितनी मनुष्य की आवश्यकतायें हैं उतने ही प्रकारके दान भी हैं जिस समय जिस २ दानकी आवश्यकता पड़े उस २ समय उस दान को देकर दुखियों के शरीर और मन के दुविधा को दूर करने के लिये यथाशक्ति यत्न करना चाहिये।

दानपात्र।

दान देते वक्त दान लेने वाले मनुष्य का भी विचार करना योग्य है क्योंकि ऊसर भूमि में बोया बीज उगता नहीं है प्रत्युत व्यर्थ जाता है अपात्रणको दिये हुए दान से कोई लाभ नहीं होता जो विषयी है गर्भपात है, चोर है, ऐसे मनुष्यको उसके कुकर्म में सहायता पहुचाने के लिये कभी द्रव्य न देना चाहिये जो ऐसे मनुष्य भूखे हो दुख से पीड़ा पा रहे हो तो उन्हें उनका दुःख दूर करने के लिये कृपा का दान देना चाहिये परन्तु नकद पैसे न देने चाहिये उन्हे जिस अन्न जल वस्त्र औषधि के अभाव में पीड़ा हो वही देना चाहिये ऐसे अनुकम्पा दान का देना ऐसे मनुष्यो के लिये भी शास्त्र में लिखा है इस सिद्धान्त को ध्यान में रखकर हमें अधर्मियो पर भी दया करनेसे मुख न मोड़ना चाहिये इसी बारे में गुलनाद ग्रन्थमें लिखा है—

आध्यात्मिक और ज्ञान दान ।

(१) अज्ञानी मनुष्योंको ज्ञान देना (२) बुद्धिमें आवे ऐसा उपदेश कर धर्ममें शंका करने वाले मनुष्यों के चित्त का समाधान करना (३) दुराचरणोंमें पड़े हुए मनुष्यों को रीतिसे समझा बुझाकर कुमार्ग से दूरकर अच्छे मार्गपर लगा देना (४) मानसिक पीड़ा से चिंता उद्वेग दुखी मनुष्यों को कर्म के सिद्धांत को समझाकर शान्त करना (५) अपराधियोंको उन के अज्ञान का दोष मानकर क्षमा करना (६) सबका कल्याण हो और सब सन्मार्ग पर चले ऐसी प्रार्थना करना जैसा कि बड़े शांति पाठमें लिखा है—

शिवमस्तुसर्वजगतःपरहितनिरताभवन्तुभूतगणा दोष'प्रयान्तुनाश सर्वत्र सुखिनोभवन्तु लोका'

सब जगत् का भला हो परोपकार में सब ... लगे दोष नाश दूर हो सब जगह सब लोग सुखी रहें

(७) जो धर्म में शिथिल हो उनको शुद्ध ... देश कर धर्म में दृढ करना (८) जो दृढ़ हो खूब दृढ करना (९) किसी पर झूठा कलंक ... गाना और जो कोई दोष सचा हो तो भी उसे न करना परन्तु दोषी को शुद्ध मार्ग पर ... करना (१०) मनुष्य को निर्भय बनाना ये

कहा जा सकता है। ऐसा दान उसके पुरुषार्थ का नाश करने वाला है इस तो दान शुभ इच्छा से है परन्तु वे इस रे दान को पाकर आलसी प्रहदी विषयी हो जाते हैं और उन में काम करने की शक्ति ही नहीं रहती ऐसा होने पर जो उन्हें भिक्षा न मिले तो सचमुच उनकी स्थिति बड़ी चिन्ताजनक हो जाती है। इस लिये जो इस अयोग्य रीतिसे दान देकर भिखारियोंकी सङ्ख्याकी वृद्धि करते हैं और देश में आलसको बढ़ाते हैं, उनका आशय शुद्ध होने पर भी फल विपरीत होता है अर्थात् वे न तो भिखारियोंका ही भला करपाते हैं न देशका ही, प्रत्युत अपने पैसेखोते हैं

दान देनेका हेतु।

मनुष्य अलग २ कारणसे दान देते हैं। "दूसरेका दुःख दूर करना" ऊपरसे-मोटी निगाहसे देखने पर सबका हेतु यही मालूम होगा। परन्तु अलग २ मनुष्योंमें दान,देनेके आन्तरिक हेतु कौन २ से हैं और उनमें सबसे अच्छा हेतु कौनसा है इसे अब हम देखें।

कितने ही मनुष्य अपने नामके लिये, कीर्तिके लोभसे, दुनियामें वाहवाही मिलनेके निमित्त अपने धनको परोपकारमें खर्च करते हैं, कितने ही पराये दुःखको दूर करनेके अर्थ, परलोकमें सुख पानेको और कुछ इस लोकमें भी मान मिलनेको दान करते हैं।

कितने ही किसीका दुःख देख, उसे अपनेसे अधम स्थितिमें जान, गरीबोंको मदद देना मनुष्यका धर्म है ऐसा विचार दान देते हैं। और कितने एक तो जो सर्वोत्तम पदके अधिकारी हैं स्वाभाविक रीतिसे दान देना, दुखियाके दुःख दूर करना ऐसा इनका स्वभाव ही हो गया है।

"विवेक चूडामणि" में लिखा है कि—वसन्त ऋतु की तरह दुनियाका हित करने वाले शान्त महात्मा जन इस जगतमें रहते हैं वे स्वयं महा भयंकर संसार समुद्रको तैर गये हैं और बिना किसी प्रकारके स्वार्थ के औरोंको भी तार रहे हैं।

जैसे सूर्यकी प्रखर किरणोंसे तपी हुई पृथ्वीको शीतांशु चन्द्रमा स्वयं शीतल करता है महापुरुषोंका यह स्वभाव ही है कि वे औरोंके श्रमको दूर कर देते हैं। आशयकी अपेक्षासे दान देनेवालोंको हमने चार विभागमें विभक्त किये हैं। कैसे ही हेतुसे दान क्यों न दिया गया हो कर्मके अटल नियमके अनुकूल दान से दी हुई वस्तु दान देनेवालेको परभवमें अवश्य मिलती है। परन्तु दान देनेवालेके चारित्र वर्तनका आधार उसके उन विचारोंपर है जो विचार उसके दान देते समय थे।

आशय पर चरित्रका आधार।

जो मनुष्य इस संसारमें प्रतिष्ठा पानेके लिये या रायबहादुर खानबहादुर आदि पदोंके लालचसे परो-

पकार करते हैं उन्हें परोपकार करनेका–दान देनेका सच्चा मानसिक सुख नहीं मिलता । जो मनुष्य दूसरेकी प्रशंसा पर अपने सुखका आधार रखते हैं वे बड़ी भूल करते हैं । ऐसा दान देनेवालोंका चारित्र किसी भांति उच्च नहीं होता । परन्तु यहां पर इतना न लिखनेसे भूल होगी कि जो लोभके वशीभूत हो एक पाई भी खर्च करना नहीं चाहते, या "चमड़ी जाय पर दमड़ी न जाय" के उदाहरण बन रहे हैं ऐसे कंजूस और लोभी मनुष्योंसे कीर्तिके लिये द्रव्य खर्च करने वाले हजार दरजे अच्छे हैं । धनकी ममता बड़ी प्रबल है । धन को देने का काम सहज नहीं है । चाहे मनुष्य अपने नामके लिये ही पैसे खर्च करे परन्तु जब तक उसके पैसेसे दूसरोंका दुःख दूर होता है और औरोंको लाभ पहुंचता है तब तक उसके काम उत्तम कहनेमें हमें जरा भी संकोच नहीं है । हां, उसके स्वयं आत्म विकास होनेमें उससे लाभ नहीं पहुंचता ।

लोभी पुरुषोंकी दयाजनक स्थितिके उदाहरण ।

ऊपर दिखलाई हुई हालतको सिद्ध करनेके लिये हम यहां पर दो एक मनन करने योग्य दृष्टान्त देते हैं । देव मूर्त्तिओंको तोड़ने फोड़ने वाला महमूद गंज नवी हिन्दुस्थानसे बहुतसा द्रव्य अपने देशको लेगया ।

हिन्दुस्थानकी लक्ष्मीके लोभमें पड़कर उसने हिन्दुस्थानके अलग २ भागों पर चढाईकी और भांति २के अमूल्य रत्नोंको ढोकर ले गया। जिस समय वह मृत्यु शय्या पर सोया उस समय उसने अपनी लूटका सब धन अपने पास मंगवाया और बड़ा भारी ढेर लगवा दिया और उसे देख खूब कूट कूट कर रोया। रोते २ वह बोल उठा "हाय अफसोस! इस धनको मैं किसी काममें न ला सका और अब मुझे इसे छोड़कर योंही जाना पड़ेगा।" लोभी मनुष्योंकी यही दशा होती है।

इसी तरह इ० स० के पहले ३२७ में महान् सिकन्दरने हिन्दुस्थान पर चढाई की थी। ग्रीसके बादशाह सिकन्दरने भी अपनी लक्ष्मीका कुछ अच्छा उपयोग नहीं किया था। देशोंको जीतना, सबपर हुकुम चलाना, और धनको इकट्ठा करनेमें ही उसने अपनी आयुष्य पूरी की। परन्तु मरते समय उसे लक्ष्मीको अच्छे कामोंमें न लगा सकनेका पश्चात्ताप हुआ। उसने अपने मनुष्योंको आज्ञा दी कि मरनेके बाद मेरे दोनों हाथोंको खुले हुए रख कर मेरी रथी शहरकी गली-गलीमें फिराई जाय। इससे उसके जीवनसे संसारभर शिक्षा ग्रहण करे कि, जो मनुष्य अपने धनका अच्छा उपयोग नहीं करते वे जैसे आते हैं वैसे ही खाली हाथों जाते हैं।

दूसरे प्रकारके मनुष्योंके दानमें स्वार्थ भरा हुआ होता है। जहां स्वार्थ है वहां उपकार वृत्ति हो ही नहीं सकती। इस लिये इस वर्गके मनुष्योंको दयाका गुण वास्तविक रीतिसे मिलता ही नहीं है। ये मध्यम श्रेणीके मनुष्य हैं। अपने स्वार्थमें जहां तक विरोध न आवे वहां तक वे उपकार करते हैं। परन्तु जितने अंशमें परायेका दुःख दूर करनेके लिये परोपकार किया जाय उतने ही अंश में मनुष्यका हृदय कोमल दयार्द्र बनता है और उतने ही अंशमें स्वर्गीय सुख अनुभव होता है।

'इंगलैंडके कालिदास' कवि शेकसपियरने एक जगह लिखा है कि —

The quality of money is not strained, It dropi eth as the gentle rain from heaven
Upon the place beneath It is Twice blessed
It blesseth him that gives and him that takes,
It is an attribute to God Himself,
An earthly power doth then show like God,
When mercy seasons justice."

दयाके गुण स्वाभाविक रीति से पैदा होते हैं। वे झरझर २ बरसते हुये बरसात की तरह उच्च प्रदेशमें से नीचेकी भूमिपर आते हैं। वे दोनोंको सुख देते हैं क्या देनेवाला और क्या लेनेवाला इससे दोनों सुखी होते हैं। राजाओं के हृदय में उसका उच्च स्थान है

पूरे साधनोंके अभाव से जिन कामोंको वे यहां पर नहीं कर सकते उन्हें करनेके विचार उनमें सदा बने रहते हैं ऐसे विचारों के प्रभाव से भी इस स्थूल शरीरको छोड़कर उनकी आत्मा सुखानुभव की जगह (स्वर्गमें) पहुंचती है। इस तरह उच्च कोटिके प्रेम के प्रभाव से विश्वके हितके निमित्त केवल निःस्वार्थ बुद्धिसे दान देनेवाले सुख भोगनेको समर्थ होते हैं। आत्महितैषी मनुष्योंको चाहिये कि वे दान देवें और बचपन से ही यह गुण बालकोंमें डालें क्योंकि इस उत्तम गुणसे ही मनुष्य पराये का हित करते हुए अपना हित करते हैं। दान देकर दूसरों का दुःख दूर करने से जो आनन्द की झलक दान लेनेवालेके चहरे पर देख पड़ती है उसे देखकर दान देनेवालेके जी में जो दयार्द्रता और हृदयमें विशालता उत्पन्न होती है यह बात मान, नाम और प्रतिष्ठाके लिये दान देने वालोंके जी में नहीं पैदा होती। दान औरोंसे दिल वानेकी अपेक्षा खुद देना अच्छा है, क्योंकि ऐसा करने से लेनेवालेको जो वृत्ति उदय होती है उससे देने वालेका हृदय बड़ा होता है और दान देनेकी वृत्ति बढ़ती जाती है इसलिये मानसिक आनन्दके साथ आत्महित साधन करने की प्रत्येक मनुष्यको आग्रह कर इस प्रकरण को पूर्ण करते हैं।

दूसरी कुञ्जी।



तृतीय प्रकरण–शील (शुद्धाचार)

गये प्रकरण में हम दानका विचार कर गये हैं अब इस प्रकरण में हम शील नामक दूसरी कुञ्जी का विचार करते हैं। शुद्धाचार, शुभचरित्र पवित्र वर्तन आदि अनेक शब्द शील का अर्थ बतलाते हैं। इन शब्दों में से समय २ पर योग्य शब्द का व्यवहार किया जायगा।

शील शब्द प्राय पुरुषों के लिये स्वदार सन्तोष के अर्थ में और स्त्रियों के लिये पातिव्रत्य के अर्थ में आता है परन्तु यहा पर इतने संकुचित अर्थ में उसका व्यवहार नही किया गया है यहा पर इसका बहुत लम्बा चौड़ा अर्थ है जो जो आचार शुद्ध और पवित्र हो और जो जो उन्नतिक्रम में सहायक हो वे सब शीलके नाम से कहे जा सकते हैं और जो जो अशुद्धाचार हैं दूसरेको अहितकर हैं उन्नति क्रममें बाधा पहुचाते है वे सब कुशील वा दुर्गुण के नाम से कहे जा सकते हैं।

जरा सूक्ष्म दृष्टि से देखने वाले मनुष्यको प्रत्येक धर्म से दो प्रकार की शिक्षा मिलती है, एक आध्या

त्मिक शिक्षा और दूसरी नैतिक शिक्षा । जो नीतिके सिद्धान्त या नैतिक नियम हैं वे प्रत्येक मनुष्य के लिये हैं परन्तु जो मनुष्य नीतिके नियमोंमें पारङ्गत हो आत्मविद्या जानना चाहते हैं या नीति के नियम किस आधार पर बने हैं इस का ज्ञान सम्पादन करना चाहते हैं उन्हें परम पुरुषके स्थापित किये हुए धर्म में तत्त्व ज्ञानकी गुप्त और उच्च शिक्षायें मिलेंगी।

प्रत्येक नीति नियमका तत्त्वज्ञान पर आधार है बहुत से मनुष्य नीति के नियमका रहस्य समझे बिना भी सन्मार्ग पर चलते हैं जैसे मनुष्य जहाज को चलाना नहीं जानते परन्तु चतुर कैप्टन की चतुराई पर विश्वास कर जहाज में बैठते हैं और समुद्रके पार हो जाते हैं वैसे ही नीतिके नियम किन सिद्धान्तों पर बने हैं इसे न समझकर भी हम उन नियमोंपर चलकर अपना कल्याण कर सकते हैं। क्योंकि हमें ऐसा विश्वास करना चाहिये कि परोपकारी महापुरुष केवल परमार्थ बुद्धि से हमारे कल्याण के लिये इन नियमों को स्थापित कर गये हैं परन्तु वर्तमान समय बुद्धि का समय है यह समय ऐसा नहीं है कि " धर्म में कहा है इस से सत्य है ,, ऐसा दुनिया मान ले और उस पर श्रद्धा करे लोक अपने

लिये विचार करने वाले हुये है " अन्धेन नीयमाना यथान्धा „ की बात नही चरती है ये चिन्ह भविष्य के अच्छी आशा बधाने वाले जान पड़ते हैं स्वतन्त्र विचार की आवश्यकता है परन्तु उसके साथ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि प्राचीन महानुभावो के सिद्धान्तो के गूढ़ाशयोको समझे विना उनके सिद्धान्तोपर तिरस्कार करना और उन्हे विगड़े हुए दिमाग की कल्पना ठहराना स्वतन्त्र विचार नही कहा जासकता और न स्वतन्त्र विचार का ऐसा अर्थ भी है यह तो एक प्रकार का उद्धतपन कहा जा सकता है इस लिये इन दोनो एकतरफा (Lxtremo) रस्ते को छोडकर सुवर्णमय मध्यम मार्ग (Golden mean) इस विषय में तथा और २ विषयो में भी अंगीकार किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि हम सत्य मार्ग के समीप आये है।

अब हम ऊपर लिखी हुई बातको हमारे प्रस्तुत प्रकरण के अनुकूल करें शील यानी उत्तम कोटि के नियम हमे क्यो पालने चाहिये। क्यो हमें सदाचारी होना चाहिये? क्यो न हम झूठ बोलें। दान देने में क्या फायदा। व्यभिचार करने में क्या हानि। नीति का विचार करते हुए ऐसे २ प्रश्न मनुष्य के हृदय मे

स्वाभाविक रीति से उत्पन्न होते हैं इन प्रश्नों का उत्तर साधारण रीतिसे यों दिया जाता है कि शास्त्रोंमें इन्हें महा पाप लिखा है इनके करने से अधमगति मिलती है इस से इनका आचरण न करना चाहिये श्रद्धालु मनुष्य इतना कहने से मान जाते थे और कुमार्ग पर पैर भी न रखते थे परन्तु समय के परिवर्तन से प्रत्येक बात का बुद्धिग्राह्य उत्तर मांगा जाता है हेतु और कारण पूछे जाते हैं और जब तक वे न बताये जाय तब तक धर्म के सत्यांशों में शंका हो यह स्वाभाविक बात है क्योंकि पश्चिम की शिक्षा के वायु ने लोगों की बुद्धिको स्वतन्त्र विचार करने की ओर प्रवृत्त करदिया है शंकाओं को दबा देने व उनका स्पष्टीकरण पूर्वक समाधान न करने से शंकायें मिट नहीं जाती प्रत्युत बढ जाती हैं इन शंकाओं को दूर करने के लिये दर्शनशास्त्र (Philosophy) अपने तेजस्वी रूप की दिव्य मूर्ति से विचार की रंगभूमि पर आ खड़ा होता है और गंभीर स्वर से कहता है कि " हे मानसिक शिक्षा पाये हुए नवयुवक ! तेरी शंकाओंका उचित समाधान करने के लिये मैं तैयार हूं तू केवल बुद्धि के भरोसे पर ही मत रह मेरा उपदेश सुन और चित्त को स्थिर कर उस पर खूब विचारकर तेरी शंकायें स्वयमेव दूर हो जायगीं ।

अब हम नीति-सिद्धान्तो की पुष्टि करने वाले तत्वज्ञान के कुछ अ शो पर विचार करते हैं धर्मशास्त्र कहते हैं कि सब हृदयो में आत्मा निवास करती है सब आत्मा एकसी है कर्म की भांति २ की प्रकृति के अनुसार उन्नति क्रम से अलग २ सीढियो पर होने के कारण वे अलग २ जान पड़ती है परन्तु तत्वदृष्टि से उनमें कोई भेद नही आत्मतत्व की दृष्टिसे आत्मा समान है सत्ता स्वरूप से आत्मा में भिन्नता नहीं है परन्तु आत्मा की शक्ति कैसी और कितनी व्यक्त (प्रकट) हुई है इसी पर आत्माओ में देख पडते हुए भेदका आधार है निश्चय दृष्टि से आत्मतत्व में कोई भेद नहीं है उपाधि भेद से सूर्य नाना भांतिका देख पडता है वैसे ही देह भेद से हमें आत्माओ में भेद जान पड़ता है वास्तवमें आत्मस्वरूपमें कोई भेद नहीं है जब हममें और हमारे मानव बन्धुमें आत्मा समान भावसे विद्यमान है तब किसी मनुष्यको दु,ख पहुचानेमें उसे हैरान करनेमें उसे धोखा देनेमें हम स्वय अपनेको दु ख पहुचाते हैं हैरान करते हैं धोखा देते हैं. दुनिया एक बड़ा भारी कुटुम्ब है, हम सब उस कुटुम्ब के मनुष्य है, अपने कुटुम्बका कोई मनुष्य अज्ञान या दुराचारी हो तो हम उसे बाहर निकाल नही देते,

यद्वा यद्वा उसकी निन्दा नहीं करते हैं, बल्कि उसे सु धारनेका यत्न करते हैं, उसी प्रकार हमारा कर्तव्य अपने मानवबंधुके अज्ञान या दोषकी निन्दा करना नहीं है बल्कि अपने ज्ञान और पवित्रतासे उनका अज्ञान और दोषको दूर करना है ऐसा विचार करने पर मालूम होता है कि सब प्रकारकी नीतिका मूल प्रेम सार्वजनिक विश्वप्रेम है, मनुष्य, प्राणी, वनस्पति (जिनमें चैतन्य है) की ओर हमें प्रेम रखना चाहिये इन सबका कल्याण करनेमें ही हमें परम धर्म मानना चाहिये, इस तरह प्रेमकी विशाल दृष्टिसे प्रत्येक जीवित वस्तुकी ओर देखनेसे भेदभाव नहीं रहता और प्राणी मात्रकी ओर साम्यदृष्टि उत्पन्न हो जाती है, बाह्य उपाधिसे जो स्व और परका भेद उत्पन्न हुआ था वह दूर हो जाता है और वसुधा कुटुम्ब तुल्य हो जाती है और जब कोई पराया रहता ही नहीं तब झूठ, चोरी, हिंसा या व्यभिचार करना बन ही नहीं पड़ता आत्मवत् सब प्राणियोंको जो देखता है वही देखता है "आत्मवत् सर्व भूतेषु य पश्यति स पश्यति

श्री भगवत गीतामें लिखा है —

विद्याविनयसपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिता समदर्शिन॥

विद्या और विनय युक्त ब्राह्मण गाय हाथी कुत्ता और चाण्डाल-अर्थात् सबको ओर समभावसे देखने वाले ही पण्डित होते हैं। सब आत्मा समान हैं तब हमें एकको दूसरेके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये इसका उत्तर शीघ्र दिया जा सकेगा जिस कामसे हमें दुःख हो-जिस कामसे हमारा अहित हो और जो अहितकार हो ऐसा काम औरोंको भी आत्मामें साम्य होनेसे बुरा लगेगा, इस लिये हमें ऐसे काम करना ही न चाहिये, इस बारेमें नीचे लिखे हुए धर्मशास्त्रके वचन खूब मनन करने योग्य हैं —

'आत्मौपम्येन भूतेषु दया कुर्वन्ति साधव ॥,

जैसी हमें अपनी आत्मा प्यारी है वैसी ही औरों को भी उनकी आत्मायें प्यारी हैं, इस तरह आत्मा की समानताका विचार कर साधु पुरुष दूसरोंपर दया करते हैं। 'धर्म सर्वस्व, ग्रन्थमें लिखा है कि —

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

धर्मका सार सुनकर धारण करो "जो अपने प्रतिकूल हो वह दूसरो के प्रति न आचरण करो" बाइबलमें लिखा है —

Do unto otheis as you with them to do unto you जैसा तुम दूसरोंसे व्यवहार कराना चाहते हो

वैसा ही व्यवहार तुम दूसरोंसे करो,, इसीसे नीतिके नियमोंका विचार करते हुए जो अध्यात्म विद्या तत्त्व ज्ञानसे सिद्ध हुआ ऊपर लिखा हुआ अनुमान है, ध्यानमें रखने लायक है॥

अब हम नीतिके नियमोंका अनुमोदन करनेवाली एक और विचारश्रेणीसे काम लेते हैं आत्महितैषी पुरुषको प्रत्येक काम करते समय विचार करना चाहिये कि हम किस सीढीपर मौजूद है, हमें इष्ट स्थानक पर पहुचनेके लिये कौनसी रीतिसे पैर बढाना चाहिये, हमारी आत्माका विकास हो और पूज्य पुरुषोंकी दशामें पहुचे इस कामके लिये कौनसे मार्गपर हमें जाना चाहिये, अर्हंत तीर्थंकर महात्मा, ऋषि मुनि, जिन गुणोसे इष्टसिद्धि कर सके वे गुण हममें हैं या नही और अमुक काम करनेसे उन गुणोंकी प्राप्ति होगी या उलटे दुर्गुण आवेंगे। इन बातोंका विचार हमें जिस किसी कामको आरम्भ करनेके पहले करना चाहिये, क्योंकि प्रत्येक कामको आरभ करनेके समयके भावोंपर ही आत्मविकाश और आत्मसकोचका दारमदार है।

अब तक खनिज पदार्थ वनस्पति और प्राणी वर्ग में उन्नतिका आधार Law of the survival of the fittest कानूनके दो हिस्से या "जबरदस्त कोटेको

सिरपर" इस सूत्र पर है जो विशेष बलवान् वही दू-
सरोका नाश करके भी जी सकता है, परन्तु मनुष्य
और प्राणी वर्गमें बडा अन्तर है जो सूत्र प्राणी वर्ग
का सहाय कर्ता है, वही हमारी उन्नतिका बाधक है
मनुष्य वर्गमें आये बाद हमारी उन्नतिका जीवन सूत्र
आत्मसमर्पण (Law of self sacrifice) है अपनी
हानि सह कर भी जो आत्मिक उन्नतिमें कम है ऐसे
मनुष्य बधुओ पर तथा अपने सहोदर रूप प्राणियों
पर दया करनेमें ही हमारी उन्नति है हमारा बलहीन
दुखियाओको हैरान करनेमें नहीं बल्कि निरपराधी
और असमर्थोको रक्षा करनेमें लगाना चाहिये पशुओ
को नही बल्कि पाशव वृत्तियोको(Animal Instincts)
ज्ञान यज्ञमें होमनसे हमारी आत्मा शुद्ध चैतन्य रूपसे
प्रकाशित हो जायगी इस विचार परंपराको भी नीतिके
नियमोको सोचते हुए हृदयमें रखनेकी आवश्यकता है॥

अब हम यह विचार करे कि शीलमें किन २ गुणो
का समावेश होता है और किन २ गुणोका समावेश
होना चाहिये सब ओर देखने पर हमें राजर्षि महा-
त्मा भर्तृहरिका नीतिशतकमें कहा हुआ श्लोक दि-
खाई देता है यह श्लोक संक्षेपसे सब सद्गुणोको ब-
ताने वाला, सब धर्मोंको मान्य, प्रत्येक घरकी टीवार

किये हुए द्रव्य को पहिला स्थान दिया है हम अपने भाई को दुःख देते हुए खुद दुखी होते हैं। स्थूल द्रव्य की तृष्णा में पडकर आत्मिक सम्पत्ति को खो बैठते है।

धन के लाभकी अपेक्षा न्याय बुद्धि सत्यवृत्तिको मूल्य बहुत जियादा है जो मनुष्य धनके लिये आन्तरिक उच्चतत्वों का नाश कर डालते है वे अब तक धर्मके प्रथम सोपान को पहिचानने भी नहीं पाये है इस में कोई सन्देह नहीं है।

तीसरे सच बोलना शास्त्र मे कहा है कि "सत्यान्नास्ति परो धर्म „ सत्य से बढकर कोई धर्म नही है जैनधर्म में सत्य को द्वितीय महाव्रत माना है सम्पूर्ण सद्गुणो का मूल स्तम्भ सत्य है और सम्पूर्ण दुर्गुणोंका असत्य। हम जो जानते है उसके विरुद्ध कहना असत्य है जो मनुष्य झूठ बोलता है वह आन्तरिक पवित्र ध्वनि का (Inner voice of God) अनादर करता है और पवित्र हृदय को अपवित्र करता है। उसके आत्मा और अन्त करण के बीच एक मलिन पड़दा पड जाता है जिस से उस के अन्त करण में आत्मा की उज्वल ज्योति प्रतिबिम्बित नहीं होती इस प्रकार झूठ बोलने वाला अपना ही अहित करता

है कितनी बार ऐसा होता है कि औरों को हानि करने के लिये नहीं किन्तु अपने तुच्छ स्वभाव और स्वार्थके कारण मनुष्य झूठ बोलने लग जाता है सांसारिक सुख उसे प्रिय लगते हैं। और वह इस जगत्के क्षणिक सुखके लिये आत्मतत्त्व को दूर कर देने वाला झूट बोलने को उद्यत हो जाता है। बचपनसे ही मनुष्य हमी ठट्ठामें झूठ बोलना सीखते हैं। उन्हें उस समय इस बातका ज्ञान भी नहीं होता कि इसका परिणाम क्या होगा? परन्तु विचारवान मनुष्योंको चाहिए कि वे अपने बच्चोंको ऐसा करनेसे रोकें यह उनका मुख्य कर्तव्य है, क्योंकि जो बचपनसे आदत टेवको सुधारनेमें न आवेगी तो वह टेव आगे चलकर स्वभाव बन जायगी और फिर वह स्वभाव मिट नहीं सकता। कहा है कि 'ज्याका पड़ता सुभाव कि जासी जियसु„टेवका मिटना भी सत्समागम या ज्ञानकी प्रबलता से ही हो सकता है, न कि मूर्खोंके साथ बैठनेसे। इस लिये बच्चोंको भी सत्संगमें ही रखना चाहिये।

सत्य बोलनेसे सत्य विचारोंके अनुकूल चलनेसे और अन्तःकरणमें सत्य विचार करनेसे मनुष्यमें एक ऐसी शक्ति जागृत हो उठती है कि वह अन्तस्फुरणासे (Intuition) बड़े २ उलझनके मामलोंमें से भी सत्य क्या है इस बात

किये हुए द्रव्य को पहिला स्थान दिया है हम अपने भाई को दु:ख देते हुए खुद दुखी होते हैं। स्थूल द्रव्य की तृष्णा में पडकर आत्मिक सम्पत्ति को खो बैठते है।

धन के लाभकी अपेक्षा न्याय बुद्धि सत्यवृत्तिका मूल्य बहुत जियादा है जो मनुष्य धनके लिये आन्तरिक उच्चतत्वो का नाश कर डालते है वे अब तक धर्मके प्रथम सोपान को पहिचानने भी नही पाये है इस में कोई सन्देह नहीं है।

तीसरे सच बोलना शास्त्र मे कहा है कि "सत्यान्नास्ति परो धर्म „ सत्य से बढकर कोई धर्म नही है जैनधर्म में सत्य को द्वितीय महाव्रत माना है सम्पूर्ण सद्गुणो का मूल स्तम्भ सत्य है और सम्पूर्ण दुर्गुणोका असत्य। हम जो जानते हैं उसके विरुद्ध कहना असत्य है जो मनुष्य झूठ बोलता है वह आन्तरिक पवित्र ध्वनि का (Inner voice of God) अनादर करता है और पवित्र हृदय को अपवित्र करता है। उसके आत्मा और अन्त करण के बीच एक मलिन पड़दा पड जाता है जिस से उस के अन्त करण में आत्मा की उज्वल ज्योति प्रतिविम्बित नही होती इस प्रकार झूठ बोलने वाला अपना ही अहित करता

है कितनी बार ऐसा होता है कि औरों को हानि करने के लिये नहीं किन्तु अपने तुच्छ स्वभाव और स्वार्थके कारण मनुष्य झूठ बोलने लग जाता है सांसारिक सुख उसे प्रिय लगते हैं। और वह इस जगत्के क्षणिक सुखके लिये आत्मतत्त्व को दूर कर देने वाला झूट बोलने को उद्यत हो जाता है। बचपनसे ही मनुष्य इसी उद्धामें झूठ बोलना सीखते हैं। उन्हें उस समय इस बातका ज्ञान भी नहीं होता कि इसका परिणाम क्या होगा? परन्तु विचारवान मनुष्योंको चाहिए कि वे अपने बच्चोंको ऐसा करनेसे रोकें यह उनका मुख कर्तव्य है, क्योंकि जो बचपनसे आदत टेवको सुधारनेमें न आवेगी तो वह टेव आगे चलकर स्वभाव बन जायगी और फिर वह स्वभाव मिट नहीं सकता। कहा है कि 'ज्याका पड़ता सुभाव कि जासी जिवसू„टेवका मिटना भीसत्समागम या ज्ञानकी प्रबलता से ही हो सकता है न कि मूर्खोंके साथ बैठनेसे। इस लिये बच्चोंको भी सत्सगमें ही रखना चाहिये।

सत्य बोलनेसे सत्य विचारोंके अनुकूल चलनेसे और अन्तःकरणमें सत्य विचार करनेसे मनुष्यमें एक ऐसी शक्ति जागृत हो उठती है कि वह अन्तस्फुरणासे (Intuition) बड़े २ उलझनके मामलोंमें से भी सत्य क्या है इस बात

को सहजमें जान सकता है। जैसे जोहरी अनेक खोटे हीरों में से सच्चे हीरेको तुरन्त पहचान लेता है वैसे ही सत्य विचार—सत्यकथन और सत्यकाम करने वाला मनुष्य अनेक झूठी बातोंमें से सत्यको फौरन परख लेता है। ऐसे मनुष्यमें सत्य ज्ञानकी शक्ति पैदा हो जाती है।

चौथे ठीक समयपर यथा शक्ति देना, यह भी सद्गुण है दान विषयमें हम गत प्रकरणमें विवेचन कर चुके हैं इस लिये इसके विषयमें यहांपर हम कुछ लिखना नहीं चाहते तो भी दानके विषयमें एक बात लिखने लायक है और वह "काले शक्त्या प्रदानम्" है। अर्थात् ठीक समयपर दिया हुआ दान उसके लेने वालेको अत्यन्त हितकारी होता है और उससे दाता का हेतु प्रतिग्रहीता (लेनेवाला) का दु ख दूर करना है वह अच्छी भांति सिद्ध होता है। वैसे ही "यथा शक्ति देना" यहांपर "घरके बच्चे चक्की चाटे और उपाध्याय को आटा" यह कहनावत भूलने योग्य नहीं है। पहले अपने कुटुम्बका भरण पोषणका विचार कर शेष द्रव्यमें से सत्पात्रको दान देना ... क्ति ... को

हिये। इससे हमारी दया और परोपकार कीवृत्तिया विकसित होती हैं।

पाचवें "परस्त्रीकी चर्चामें भी चुप रहना" इस उत्तम गुणके विषयमें विचार करेंगे—जब हमें परस्त्री की चर्चामें भी चुप रहना है तब उसके सम्बन्धमें समागम की बात तो दूर रही इसे समझानेकी आवश्यकता न पड़ेगी। महा पुरुषोंके वाक्योंमें बड़ा रहस्य भरा हुआ होता है, और उसे ध्यान पूर्वक विचारनेकी हमें आवश्यकता है, जिस कारणसे कार्यकी उत्पत्ति हो उस कारणका ही नाश करनेका महात्मा गण उपदेश करते हैं, व्यभिचार या पर स्त्री गमनका मुख्य कारण पर स्त्री सम्बन्धी चर्चा है इसीसे ऐसी चर्चासे ही दूर रहनेका महात्माका उपदेश है, श्रीमद् भगवद्गीतामें लिखा है कि—

ध्यायतो विषयान्पुंस संगस्तेषूपजायते ॥
संगात्संजायते काम ॥

विषयोंका ध्यान करनेसे उनपर आसक्ति (संग) होती है, आसक्ति होनेसे काम वासना उत्पन्न होती है, यही नियम यहां पर भी लगेगा परस्त्री सम्बन्धी विषय चर्चा सुननेसे स्त्रियोंके हाव भाव और सुन्दरताका वर्णन करने वाले अशुद्ध उपन्यास और नाटक

देखनेसे रागी मनुष्योंके चित्तमें परस्त्री सम्बन्धी आसक्ति उत्पन्न होती है और फिर समय पाकर कामवृत्तियां प्रबल हो उठती हैं, ब्रह्मचर्यकी रक्षा करनेके लिये जो धर्म पुस्तकमें ९ वाड़—आगलका वर्णन किया है उनमें परस्त्री सम्बन्धी ऐसी चर्चाओंका न सुनना भी है, मनुष्य तीन तरह से व्यभिचार कर्मसे दूर रह सकते हैं, नीच मनुष्य राजदण्डके भयसे मध्यम मनुष्य पर लोकके भयसे और उत्तम मनुष्य स्वयमेव अपने स्वभावसे जो मनुष्य स्वस्त्रीसे सन्तोष न कर परस्त्री गामी होते हैं उन विषयान्धोंको इस बातका ज्ञान तक नहीं रहता कि वे अपने इस काले कृत्यसे उन स्त्रियोंके पतिओंका कितना जी दुखाते हैं, अपना और उस स्त्रीका कितना अकल्याण करते हैं, उनका ज्ञान तो फिर हो ही कहांसे? उन्हें सोने और और लोहेका कुछ भी ज्ञान नहीं रहता।

और जिन मनुष्योंके प्रेमका पात्र यह स्थूल शरीर नहीं किन्तु ज्योतिर्मय आत्मा है उनको किसी प्रकारसे काम विकार ही उत्पन्न नहीं होते जो प्राय जाति (Sex) विचारसे उत्पन्न होते हैं, क्योंकि उनका प्रेम बाह्य सुन्दरता पर उत्पन्न नहीं हुआ है उसी स्त्री के रुप और अवस्थामें अन्तर होनेपर भी उनके प्रेममें रत्तीभर भी अन्तर नहीं पड़ता उनका प्रेम आत्मा

से है, न कि इस हाड़ मांस मलमूत्रसे भरे हुए देहसे आत्मा एक होनेके कारण बाल्य–यौवन–वृद्धपन सब कालमें वह प्रकाश रहता है, पर स्त्रीके शरीरकी ओर इनका चित्त खिचता ही नहीं वे समझते हैं कि यह शरीर प्रिय नहीं है यदि प्रिय हो तो आत्माके निकालने पर इसकी दुर्दशा न की जाय इस व रते प्रिय आत्मा है वही प्रेम करने योग्य है इस तरह उनका प्रेम आत्मापर होता है, आत्मा न पुरुष है न स्त्री है और न नपुंसक है तो फिर परस्त्रीके शरीरकी वाञ्छा करना यह बड़ा भारी भूल है॥

छठे तृष्णाके वेगको रोकना, ममता ही सब दुःखों का कारण है 'मे और मेरा" मोहका यह प्रबल मन्त्र है तृष्णा इच्छा मनुष्यको इस जगतके जन्म मरणके चक्रमें डाल देती है बौद्ध धर्ममें कहा है कि हे भिक्षुको! नीचे बतलाया हुआ सत्य सिद्धान्त दुःखकी उत्पत्तिका कारण है जो इच्छा इन्द्रियजन्य सुखकी सहचारिणी है, जो इच्छा कभी यहां और कभी वहां सन्तोषकी खोज करती है उसी इच्छासे दुःख उत्पन्न होता है, दूसरे शब्दोंमें कहें तो कह सकते हैं विकारों को तृप्त करनेकी इच्छा ही सच्चे दुःखका कारण है, तृष्णा बढ़ानेसे वह बढ़ती जाती है इसे दूर करनेका एक ही मार्ग है, और वह मार्ग यह है कि

जिन वस्तुओंकी ओर तृष्णा दौड़ती हो उन वस्तुओं की अनित्यता और असारता उपदेशसे या अनुभवसे जान लेनी चाहिये जब तक वस्तुओं की असारताका अनुभव न होगा तब तक तृष्णाका भी नाश नहीं होगा और "न तृष्णाया परो व्याधि" बना ही रहेगा इसकी असारता का अनुभव होनेके लिये नित्य और अनित्य सद् और असद् का भेद जाननेकी बड़ी आवश्यकता है इस ज्ञान को विवेक कहते हैं, जहां विवेकका उदय हुआ कि वैराग्यवृत्ति जगी ऐसा होनेपर अनित्य वस्तुकी ओर से मन हट जाता है तृष्णा नाश करनेका यही उपाय है।

सातवें गुरुओंका विनय करना, ये उपदेश आर्य भूमिमें सामान्य है विद्या ज्ञान पानेके ३ मार्ग हैं (१) धन, (२) विद्या और (३) गुरुसेवा, क्रमश ये अधम मध्यम और उत्तम हैं, गुरुके चरणारविन्द की सेवा कर विनय पूर्वक विद्या पानी यह उत्तमोत्तम मार्ग है, परन्तु प्राचीन समयमें जो गुरुसेवा प्रचलित थी उसका सौवा भाग भी अब इस देशमें नहीं है यह दुःख की बात है अब गुरु और शिष्यका सम्बन्ध कुछ और ही शोकजनक रीतिपर होगया है शिष्य गुरुओं को तरनतारन के पूज्य भावसे नहीं देखते और न गुरु ही शिष्य को वत्स भावसे देखते हैं, पहला नियम

जो प्रथम श्रेणीका फल निकला है, उसे फेंके और नौ-कारसे पढ़ लिया इस समय वह उच्च भावका सम्बन्ध शिथिल हो गया है विनयसे गुरु प्रसन्न होते हैं और वे सच्चे अन्तःकरण ज्ञान देते हैं, इस प्रकारसे दिया हुआ ज्ञान शिष्यको बहुत जल्दी आ जाता है प्रशम-रतिमें श्री उमास्वामीने लिखा है कि विनयका फल गुरुसेवा, गुरुसेवाका फल ज्ञान ज्ञानका फल वैराग्य ऐसे बढ़ते २ मनुष्य उस दशा को पहुंच जाता है कि फिर उसे जन्म मरण के चक्रमें नहीं आना पड़ता अ-र्थात् मुक्ति पा जाता है इन सबकी पहली सीढ़ी वि-नय है, प्रत्येक आत्म हितैषी मनुष्यका कर्तव्य है कि वह गुरुभक्ति करे जिस मनुष्य में विनय है वही ज्ञान पानेका सच्चा अधिकारी है, इस लिये हम सद्गुणका विकास अवश्य करना चाहिये जिसके पास सत्य हो हमें विनय पूर्वक शिष्य वृत्तिसे उसके पाससे सत्य सीख लेना चाहिये विनयी पुरुष इस तरह थोड़े ही समय में अपने ज्ञानको खूब बढ़ा सकते हैं ॥

अन्तिम परन्तु सबसे उत्तम गुण सब प्राणियोंपर कृपा—प्राणी मात्र पर दया करनेका है प्रत्येक गुण उच्च स्थिति में ले आनेको समर्थ है परन्तु प्रत्येकका मार्ग कठिन है परन्तु यह मार्ग सबसे उत्तम और स-रल है, परोपकार करते हुए इसमें स्वार्थ सधता है,

यह गुण हमें सिखाता है कि मनुष्य ही नही प्राणीपर भी हमें दया वतानी चाहिये प्राणियोंके दु:खमें हमें सहानुभूति दिखलानी है जिस मनुष्यमें आर्द्रता नहीं है जिस मनुष्य का हृदय पराया दु:ख देखकर व्यथित नही होता और जो शक्ति होनेपर भी उसे दूर नहीं करता उसमें अभी तक दयाके अङ्कुर ही उत्पन्न नहीं हुए है, यदि हम ऐसा माने तो अनुचित नहीं है, मनुष्य भले ही बुद्धिमान् हो धनवान हो परन्तु जो उसमें आर्द्रता–दया नही है तो उसे अभीतक कुछ जानना बाकी है, परम पद पानेके पहले उसे अभी बहुत २ भवके चक्कर लगाते फिरना है ॥

बाईबिलमें सत्य कहा है कि जिन तेरे पड़ोसियो को तू देखता है उनपर ही जो तू प्रेम नही रख सक्ता तो फिर उस ईश्वर पर कैसे प्रेम कर सकेगा, जो तेरी आंखोसे अदृश्य है, इस लिये इस गुणके विकास करनेका यत्न करना चाहिये Gharith begins at home परोपकार घरसे प्रारम्भ होता है, इस सूत्रको ध्यानमें रखकर दयाका क्षेत्र धीरे २ बढाते जाना चाहिये, जिस की दयाका क्षेत्र सम्पूर्ण जगत् है ऐसी अनुकम्पाकी मूर्ति रूप गौतम बुद्धिने एक समय कहा है कि सब प्राणियोंके सुखके लिये मै जीवन समर्पण करता हूं

मेरे सब अङ्ग मनुष्य पशु पक्षीओके कल्याण रुपी यज्ञ में हवन करता हूं ॥

संसार सारा सुख शान्ति भोगे
शरीर मेरा इसके लिये है,
चाहे मुझे कष्ट अनेक होवे
मुझे न पर्वा इसकी जरा भी ॥

जिन मनुष्योंने सम्पूर्ण संसारके लाभ के लिये जन मंडलके कल्याणके निमित्त अपनी जिंदगीका अपने सर्वस्वका समर्पण कर दिया हो ऐसे प्रेमी ऐसे दयालु मनुष्य इस संसारमें बहुत कम हैं, ऐसे महात्माओके पीछे चलनेका लाभ पानेको हमें भी अपनी दयाका क्षेत्र बढाना चाहिये और औरोंके दुःख दूर करनेका यत्न करना चाहिये यदि हम सूर्यकी भांति प्रकाश न फैलासके तो भी हमें ताराकी भांति चमकते हुए होना चाहिये, और हमारे मानव बधुओंके। जो अज्ञानमें सोते सा रहे हैं—सन्मार्ग पर लानेका यत्न करना चाहिये, उस कामका करना हमारा कर्तव्य है, सब धर्मो को मान्य ऐसी दुसरी कुञ्जीका वर्णन पूरा करनेके पहले इस बातको बतला देनेकी आवश्यकता है कि इन गुणोके बीज प्रत्येक मनुष्यमें होते हैं परन्तु इसका विकसित होना मनुष्यके पुरुषार्थ पर निर्भर है।

तीसरी कुंजी ।



चतुर्थ प्रकरण—क्षमा ।

क्षमाखड्गः करे यस्य दुर्जनः किं करिष्यति ।
अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति ॥

जिसके हाथमें क्षमा रूपी खड्ग है दुर्जन उसका क्या कर सकता है? बिना तृणकी पृथ्वीपर पड़ी हुई आग अपने आप बुझ जायगी क्षमासे जो असंख्य लाभ होते हैं उनका सविस्तर वर्णन न कर हम संक्षेपमें उन लाभोंको बतलानेका यत्न करते हैं ।

किसीने जो हमारी हानिकी हो या हमारी इच्छा के विरुद्ध काम किया हो तो हम उसपर क्रोध करने लगते हैं परन्तु उस समय हमें यों विचार करना चाहिये जो हुआ वह न हुआ न होगा क्रोध करनेसे वह काम सुधर नहीं जायगा परन्तु उस मनुष्य जिसने वह काम किया है उलटा क्रोध आयगा, इस भांति अग्नि में घी डालनेसे आपसमें द्वेष बढ़ेगा दोनोंमें और दोनोंके भाईबन्धु इष्टमित्रों में कलह के बीज उगेंगे उस समय चित्त वृत्ति आर्त और रौद्र ध्यान से पूर्ण हो जायगी उसमें दूसरे विचारोंको स्थान भी न मिलेगा

एक दूसरे का कैसे बुरा करे ऐसी वृत्ति मुख्यतया जागृत होगी, इसके सिवाय क्रोध दशामें और कुछ सूझेगा ही नहीं, क्रोधसे शरीरमें एक प्रकारका विष उत्पन्न होता है इसीसे क्रोधी मनुष्यका शरीर सदा दुर्बल रहता है, क्योंकि क्रोधसे उत्पन्न हुआ विष शरीर के सत्वका नाश कर देता है, क्रोधके समयमें मनुष्य ऐसे वचन कह बैठता है कि वह बाणसे भी विशेष वेदना पहुंचाते हैं, वे वचनबाण ऐसा घाव पैदा करते हैं कि दूसरे मनुष्यके हृदयसे उसका दर्द कभी नहीं मिटता बाणका घाव मिट जाता है परन्तु वचन बाण का घाव हृदय पर होनेके कारण मुश्किल से मिटता है इसी लिये कहा गया है "If you are angry hold your tongue" जब तुम्हें क्रोध हो चुप हो जाओ।

अब हम दूसरी ओर देखें क्षमा करने से मित्रता बढती है, दूसरा मनुष्य हमारा कृतज्ञ होता है और हमारे गुणका बदला देनेका यत्न करता है क्षमा करने से हमारी चित्तवृत्ति शान्त और निर्मल होती है संक्षेपमें कहूं तो क्षमासे शान्तवृत्तिरूप स्वर्गीय सुखका स्वाद मिलता है "शौर्यस्य भूषणं क्षमा" शूरताका भूषण क्षमा है, भर्तृहरिके इन शब्दोंका रहस्य बहुत कम मनुष्य जानते हैं, हमें जो बल मिला है वह निर्बलको दुःख देनेके लिये नहीं मिला है दुर्व्यसनविकारों पर

जय पाने के लिये मिला है, अतएव वैर लेनेकी शक्ति होने पर भी जो मनुष्य क्षमा दान करते हैं वे अपनी वीरता को सुशोभित करते हैं और इसी लिये कहा है कि "शूरता का भूषण क्षमा है,, इस लेखके प्रारम्भ का श्लोक भी ऐसे ही भावका द्योतक है, जिस मनुष्य को क्रोध नही आता दुर्जन मनुष्य उनका कर ही क्या सकते हैं? परन्तु जिन मनुष्योंको क्रोध आता है वे न करनेका काम कर डालते हैं और न कहनेकी बात कह डालते हैं, यह एक प्रकारकी मानसिक दुर्बलताहै।

दुर्जन मनुष्य ऐसे २ छिद्रोंको देखता रहता है और उसका फायदा उठानेमें कभी नहीं चूकता, परन्तु जहा क्षमारूपीशस्त्र हाथ मे होता है वहा दुर्जनको ज़रासा भी छिद्र पानेका अवकाश नहीं मिलता, घास लकड़ी इकट्ठा रखी होतो अग्निका स्पर्श होनेसे वे जल उठेगी परन्तु जहा घास या लकड़ी होगी ही नहीं वहा अग्नि करेगी ही क्या? इस लिये क्रोधको स्थान न देते हुए हमे क्षमा रूपी उच्च वृत्तिको धारण करना चाहिये, जिससे हमें शान्ति मिले, आत्मा विकसित हो और दूसरा मनुष्य भी सन्मार्ग पर लगे बुद्ध भगवानने कहा है—द्वेषका नाश द्वेषसे कभी नहीं होता, परन्तु प्रेमसे उसका नाश होता है, Hatred ceases

by love and not by hatred, इससे सिद्ध होता है कि क्रोधका नाश करनेके लिये क्षमा-प्रेमके जैसा एक भी उत्तम साधन नहीं, इस प्रसगमें हम एक छोटी सी कथा लिखना योग्य समझते हैं —

एक गुणवर्मा नाम के काशीके महाराजने कौशल देशके चन्द्रशेखर नामके रईस पर चढाईकी काशी नरेश ने चन्द्रशेखर का राज्य छीन लिया और उसे उसके राज्यमें से निकाल दिया चन्द्रशेखर और उसकी राणी वहा से चले गये और और कही जाकर एक छोटीसी झोपड़ी बना कर उसमें रहने लगे यहा पर राणीके एक पुत्र हुआ उसका नाम धर्म शेखर पाड़ा गया कुछ समय वाद यहापर उन्हें एक नाईने देखा यह नाई पहले इनका ही था इसने नीचता कर इनके रहनेका इाल गुण वर्माको जा कहा गुण वर्माने राजा और राणीको पकड मगवाया और फासीकी आज्ञा दी सुभा ग्यसे धर्मशेखर को इन्होने अन्यत्र भेज दिया था वह भी इस समय वहा आ पहुचा भीड़को चीरता हुआ रास्ता साफ करने लगा उसने वहा देखा कि उसके मा बाप फासी देनेके लिये पहुचाये जा रहे हैं, उस समय उसके पिताने उसे धीरे धीरे एक उपदेश किया कि—

My son, be not long, do not short, hatred ceases not by hatred, by non-hatred-love it ceases मेरे बेटा, न तू लम्बा हो और न ओछा हो,

द्वेषसे द्वेषका नाश कभी नहीं होता परन्तु द्वेष प्रेमसे नाश हो जाता है, लड़केने इन शब्दों पर विचार किया परन्तु उनका भावार्थ नहीं समझ पाया, थोड़े समय के बाद वह अपने माता पिता के मारने वाले काशी नरेशके यहां नौकर रह गया, वह अपने मधुर स्वरके कारण काशी नरेशका कृपापात्र बन गया, उस पर राजाकी बड़ी प्रीति हो गई, राजा उसके गोदमें अपना सिर रख कर सोने लगा एक दिन राजाको इस तरह सोते २ खूब नींद आ गई धर्मशेखर को विचार आया कि इस समय राजा मेरे हाथ में है, इसने मेरे माता पिताको मारे हैं और मेरी यह गति की है यह इस समय निराधार है, मै भी इसे मार डालूं साथ ही उसे अपने पिताका उपदेश याद आया कि 'तू ओछा न हो„ इसका अर्थ उसे मालूम हुआ कि किसी काम में जल्दी न कर, उसने कटारको म्यानमें रख दिया, और याद आया 'द्वेष द्वेषसे नहीं मिटता„ राजा जगा और उसने कहा कि शिव कुंवरको गादी में गहप कर गया उसने मुझे मार डाला ऐसा मुझे स्वप्न आया है, युवक खड़ा हो गया और उसने तलवार खींची अपना सच्चा रूप जाहिर कर बोला कि "हे राजन्! आपका जीवन मेरे हाथमें है„ राजाने अपनी जिन्दगी बचानेको, बड़ी खुशामदकी तब राजकुंवरने उत्तर

दिया कि हे राजन्! मैंने आपको मार डालने की धमकी देकर अपनी जिन्दगीको जोखममें डाला है, मैं यद्यपि आपको मार डालता परन्तु मेरे पिताके उपदेशने मुझे ऐसा करनेसे रोका राजाने उसे अभय दान दिया राजकुमारने उस राजाको अपने पिताका उपदेश सुनाया उसने कहा कि मेरे पिताने मुझसे कहा था कि पुत्र! तू न लम्बा होना और न ओछा (ओछा न होनेसे मतलब जल्दी न करनेका है) जो मैंने आप को मार डाला होता तो आपके स्वजन मुझे कभी न छोड़ते और उन्हें मेरे मित्र द्वेषसे द्वेष नहीं मिटताहै परन्तु प्रेमसे उसका नाश होता है यदि मैं द्वेष वृत्ति को ही काममें लेता तो ऊपर कहे मुवाफिक वैर बढ़ता ही परन्तु हमने एक दूसरेकी जिन्दगी कायम रख प्रेमकी वृद्धिकी है और इस प्रेमसे हमारे द्वेषका अन्त हो गया है॥

जैन धर्ममें भी दिनभर किये हुए अपराधोंकी क्षमा मांगनेका उपदेश करते हुए वदिता सूत्र में कहा है कि ——

खामेमि सव्वे जीवा सव्वे जीवा खमन्तु मे।
मित्ति मे सव्व भूएसु वेरं मज्झ न केणइ॥

मैं सब जीवोंको क्षमा करता हूं सब जीव मुझे क्षमा करें मेरा वैर किसीके साथ नहीं है, मेरा सबसे मैत्री भाव है॥

प्रतिदिन इसका पाठ करते रहने पर भी जो हम इस समय दूसरोंसे द्वेष रखकर उनका बुरा करनेके विचार में लगे रहे तो वह किसी भांति उचित नहीं कहा जायगा हरेक मनुष्यको क्षमा मांगनी पड़ती है हम परमेश्वरसे अपने अपराधोंकी क्षमा मांगते हैं परन्तु वही क्षमा देते हुए हम इधर उधर देखते हैं हम जिस क्षमाको मांगते है हमें चाहिये कि उस क्षमाको हम भी औरोंको दें।

He who cannot forgivd others breaks the brtidge over which he must pass himself for every man has need to be forgiven

जो मनुष्य दूसरोंको क्षमा नहीं करता वह उस पुलको ही तोड़ देता है जिसपर होकर उसे स्वयं पार उतरना है, क्योंकि प्रत्येक मनुष्यको क्षमा मांगनेकी आवश्यकता है।

क्षमा क्यों करना चाहिये? क्षमा करनेका एक उत्तम कारण है आत्माही कर्मका कर्ता है और आत्मा ही भोक्ता है हमको जो सुख दुःख मिलते हैं उसमें अन्य मनुष्य तो केवल निमित्त कारण है उपादान कारण तो पूर्व भवमें किये हुए हमारे शुभ और अशुभ कर्म ही हैं जो हमें इस कर्म नियममें पूर्ण विश्वास हो तो किसी मनुष्य पर क्रोध करनेका कोई कारण

ही नहीं रहता हमारा वर्त्ताव कुत्तेके तुल्य हो गया है कुत्ता लकड़ी मारने वालेको नहीं काटता बलिक लकड़ीको मुखसे दबाता है वैसे ही हम इस बातका विचार नहीं करते कि पूर्व भवमें किये हुए कर्मका यह फल है किन्तु जिस मनुष्यके द्वारा हमें दुःख पहुंचता है उसीको दोषी ठहराते हैं और उससे द्वेष रखते हैं उसपर क्रोध करते हैं यह कैसी अज्ञानता है? यह कितनी विचार शून्यता है?

क्रोध अहङ्कारसे उत्पन्न होता है मेरा बिगाड़ करने वाला यह कौन है? मेरे काममें आड़ लगाने वाला यह कौन है? इसका ऐसा क्या दिमाग है कि मेरा अपमान करे? ऐसे २ अभिमानके विचार क्रोधको जागृत करते हैं ठीक हो या बेठीक, परन्तु जहां कोई अन्याय मान बैठते हैं वहां क्रोध उत्पन्न होता है किसी वृत्तिका एकदम नाश नहीं हो सकता परन्तु उसकी गतिको हम पलट अवश्य सकते हैं जैसे जलका प्रवाह जोरसे वह रहा है तो उसे रोकना बड़ा कठिन है परन्तु उसे दूसरे मार्ग पर जारी कर देना सरल है वैसे ही क्रोधको एक दमसे रोक देना कठिन है परन्तु धीरे २ यह वृत्ति सन्मार्गकी ओर लगा दी जा सकती है॥

क्रोधकी वृत्तिको रोकनेकी इच्छा रखने वाले मनुष्यको चाहिये कि पहले तो वह उसका उपयोग अपनी ओर न करे हमारी कितनी ही हानि हुई हो, हमारा कितना ही अपमान किया जाय परन्तु जो हम ऐसा करने वालेको क्षमा करदें और उससे वैर न लें तो कहा जावेगा कि हमने क्रोधको छोड़ दिया है ऐसा होनेपर भी जब हम किसीको दूसरे पर अन्याय करते हुए देखें तब जो हमारे जीमें अन्यायी पर सिंह की भांति टूट पड़नेकी बात आवे और हम उस पर वैसे ही टूट कर अन्यायको रोक दें तो वह "प्रशस्य क्रोध,, (Noble indignation) है जहा जहा अन्याय होता हो वहा वहा पर क्रोध करना क्रोधको सन्मार्ग पर लगाना कहा जायगा परन्तु अपने पर होते हुए अन्याय पर वह एक शब्द भी नहीं कहता जिसने क्रोध जीता है वह अशुभ विचारको कभी स्थान नहीं देता इससे भी एक और ऊचा दर्जा है उस पर पहुंचे हुए मनुष्योंको दयाके पात्र अन्यायी और अन्याय पीड़ित दोनो ही होते हैं वे विचार करते हैं कि जिस पर अन्याय हुआ है उसने अपने किये हुए कर्मोंका फल भोगा है यद्यपि वह दया पात्र और उसका दु ख दूर करना हमारा कर्त्तव्य भी है परन्तु दु ख भोगनेमें उसके अशुभ कर्मोंका क्षय होता है और अ-

न्याय करने वाला तो सचमुच नवीन कर्मोंके बन्धनमें पड़ता है उसे समझाकर सन्मार्ग पर लगाना हमारा परम कर्तव्य है क्योंकि जो वह सन्मार्गको न जानेगा तो उसके अन्यायका कभी अन्त न होगा और वह जियादा २ अन्याय करता जायगा. इस तरह क्रोध वृत्ति द्वेषमें पलट जाती है जैनियोंके २४ वें तीर्थंकर महावीर स्वामीको जब चंड कौशिक नागने डसा तब वे क्रोधमें न आये परन्तु उसपर दयाकर उसे उन्होंने ज्ञान दिया अपनी हानिसे दयासागर महात्माओंको जरा भी क्रोध नहीं होता कारण के उनका जीवन ही लोककल्याणके लिये होता है इस भांति दयामय प्रभु ने दया कर सपका भी उद्धार किया धन्य उच जीवा त्माओंका परम दासत्व है वे कर्मकी विचित्र गतिको समझते हैं वे जानते हैं कि जितने अन्यायके कार्य जगत्में होते हैं उनका सच्चा कारण अज्ञान है कितने ही मनुष्य कहा करते हैं कि उसने तो अमुक काम जान बूझकर किया है उसने बुरा जानते हुए भी अमुक कामको किया है अब उसे कैसे क्षमा दी जा सकती है? उसको तो सजा ही दी जानी चाहिये इस के उत्तरमें कहा जा सकता है कि उस कामकी बुराई चाहे उसकी बुद्धिने मान भी ली हो परन्तु उसके

अन्त करणमें इस बातकी प्रतीति नहीं हुई और जब तक हृदय और बुद्धि दोनोसे सत्य स्वीकृत न हो तब तक यथार्थ ज्ञान हो ही नही सकता यदि किसीने लोभमे आकर कोई बुरा काम किया हो तो लोभ भी एक प्रकारका अज्ञान ही है जो वस्तु आत्माकी नही है उस पर अपना हक स्थापित करनेका यत्न करना लाभ है यह लोभ अज्ञान नहीं तो क्या है ? ऐसे जैसेर सूक्ष्म विचार किया जायगा वैसे ही वैसे ज्ञात होगा कि सब तरहके दूषण, सब भांतिके अपराध, भांति २ के अन्याय वगैरह सब अज्ञानसे उत्पन्न हुए हैं "Ignorance is to be pitied rather than scorned" और अज्ञान धिक्कारका पात्र नही है किन्तु दयाका है अतएव अज्ञानी मनुष्यो पर दयाकर उन्हे शुद्ध मार्ग पर लगाना चाहिये न कि उनपर क्रोध करना चाहिये कारण कि क्रोध करनेसे वे हमारे सुन्दर उपदेशसे विमुख हो जायग और हमें उपकार करनेका मौका न मिलेगा ॥

चौथी कुंजी।

पांचवा प्रकरण–वैराग्य।

पहले यह जानना चाहिये कि वैराग्य कहते किसे हैं? किसी भी पदार्थ या वस्तुकी ओर रागके अभाव का होना वैराग्य कहाता है उसकी ओर उदासीन वृत्तिका होना भी वैराग्य कहा जाता है यह वृत्ति कब उत्पन्न होती है और इससे क्या शिक्षा ग्रहण करना चाहिये? सच्चे और क्षणिक वैराग्यमें क्या भेद है? इसका यथार्थ बोध देनेकी आवश्यकता है।

जो हम बारीकीसे देखेंगे तो ज्ञात होगा कि
राग्य दुःखसे ही उत्पन्न होता है। ज्ञानसे भी वै-
य होता है परन्तु वैराग्यका प्रभाव तो दुःख पड़े
ी देख पड़ेगा जब तक मनुष्यको उसके वाञ्छित प-
र्थ मिलते हैं, जब तक सब संयोग और मनुष्य अ-
ल होते हैं, जब तक सब स्वजन और इष्ट मित्र
ि रहते हैं और मनमानी लक्ष्मी होती है, कोई
उसके प्रतिकूल नहीं होता तब तक वैराग्य वृत्ति
ा ही नहीं होती, तब तक तो वह उसी सुखमें
ई मानता है। परन्तु सबका संहार करने वाला

काल अपना स्वरूप दिखाता है जिससे वह सुख सदा बना नहीं रहा जिसकी स्वप्नमें भी इच्छा न की हो ऐसी २ बाते बन जाती है । जिसे मनुष्य अपना मित्र गिनता हो, जिससे पलभर भी दूर रहना सौ वर्षसे भी विशेष मालूम होता हो वही प्रेमपात्र मृत्युके आधीन हो जाता है, जिसपर आसक्त हो उसीका नाश हो जाता है या वही उससे दूर हो जाता है, ऐसे समय मनुष्यके मनमें एक प्रकारकी ग्लानि उत्पन्न होती है । दूसरे शब्दोंमें कहें तो संसारपर विराग उत्पन्न होता है ।

परन्तु यह वैराग्य बहुत समय तक ठहरता नहीं है । लोग ऐसे वैराग्यको श्मशान वैराग्य कहते हैं । क्योंकि श्मशानसे लौट आने पर जैसे शोक दूर होता है वैसे ही यह वैराग्य भी थोडे ही समयमें अदृश्य हो जाता है । वह दूसरे मनुष्यके साथ प्रीति करता है, दूसरा मनुष्य उसके चित्तको खींच लेता है । उसके जीवनमें आनन्द देने वाले दूसरे फूल खिलते हैं, और जिस वस्तुका अभाव होनेसे वैराग्य उत्पन्न हुआ था वैसी ही या उससे सुन्दर दूसरी वस्तु मिलते ही वैराग्यका लोप हो गया ।

जिस समय यह वैराग्य वृत्ति मौजूद हो और संसार असार जान पडता हो उस समय वैराग्यसे अने·

क उपदेश ग्रहण किये जा सकते हैं। जैसे संसारकी असारता और अनित्यता यह वैराग्य वृत्ति मनुष्यका ध्यान आत्माकी ओर भी खींचनेको समर्थ होती है परन्तु थोड़े ही समयमें सांसारिक पदार्थोंके आकर्षणसे मनुष्यकी वैराग्य वृत्तिका लोप हो जाता है। शास्त्रमें लिखा है कि —

धर्माख्याने श्मशाने च रोगिणा या मतिर्भवेत्।
यदि सा निश्चला बुद्धि को न मुच्येत बन्धनात्॥

धर्म सुनते वक्त, श्मशानमें, अथवा बीमार होने की हालतमें जैसी मनुष्यकी बुद्धि होती है वैसी ही निर्मल बुद्धि सदा बनी रहे तो कौन मुक्त न हो जाय? अर्थात् सब मुक्त हो जाय। मनुष्य जब दुःख-दर्दसे पीड़ा पा रहा हो तब उसे पांचों इन्द्रियोंके विषय सुखकी वैसे ही सांसारिक मायाके और २ सुखोंकी असारता पर उसका ध्यान जायगा। जब मनुष्य श्मशानमें जाता है और देखता है कि मुर्दे जल रहे हैं तब इसे विचार होता है कि एक न एक दिन यह हमारा शरीर भी जलेगा। जिस शरीरको हमने पाल पोस कर बड़ा किया, जिसके पालन करनेमें हमने अनेक वस्तुओंका नाश करना ठीक समझा, वह शरीर मेरे साथ चलनेका नहीं है हा, हम इस बातको जानते नहीं हैं कि कब तक मरेंगे, परन्तु अवश्य और

यह शरीर इसी तरह जलेगा और हम जिन्हें मेरा मेरी कहते हैं उन सब वस्तुओंको छोड़ जाना पड़ेगा मरण निश्चित है इस विषयमें बुद्ध धर्ममें एक छोटी सी परन्तु उपदेश जनक कहानी है, उसे यहां लिखते हैं।

किसी जगह गौतमी नामकी एक बड़ी सुन्दर युवती थी उसका विवाह एक योग्य वरके साथ किया गया था, इससे एक पुत्र उत्पन्न हुआ यह लड़का जब दौड़ने लायक हुआ तब यकायक मर गया। गोमतीको इस पर अत्यन्त स्नेह था कि वह मरे हुए बच्चेको अपने गोदमें लेकर उसके लिये घर २ दवा पूछती फिरी। उसे एक बौद्ध सन्यासीने देखा और उसकी अज्ञान दशा जानकर कहा बाई मेरे पास तो दवा नहीं है परन्तु जिसके पास ऐसी दवा है उस मनुष्यको मैं जानता हूं ऐसी दवा दे सके वह कौन है! गौतमीने बड़ी आतुरतासे पूछा उसने उत्तर दिया कि बुद्ध देव ऐसी दवा दे सकते हैं तू उनके पास जा॥

वह गौतमी बुद्धके पास गई और नमस्कार कर बोली "हे नाथ! हे प्रभो! मेरे बालकको लाभ पहुंचावे ऐसी कोई औषधि आप जानते हैं?" बुद्धने उत्तर दिया कि "हां, मैं कुछ औषधि जानता हूं" भारतमें ऐसी रीति प्रचलित है कि वैद्य या हकीम जो जो औषधियां मगावे ला देना चाहिये। इसी

रीतिके अनुसार गौतमीने पूछा कि किस औषधिका काम पड़ेगा ? बुद्ध देवने कहा कि सिर्फ सरसों चाहिये यह सुनकर गौतमी बड़ी प्रसन्न हुई, क्योंकि सरसोंका मिलजाना कुछ कठिन न था। परन्तु बुद्ध देवने साथ ही यह भी कहा कि "जिस घरमें कोई बालक, वृद्ध माता पिता या नौकर चाकर न मरे हो ऐसे घर से सरसों लाना गौतमी बहुत अच्छा कहकर चली वह घर घर फिरने लगी जिसके घर जाती वहां सर सों देनेके लिये तैयार हो जाते परन्तु जब वह पूछती कि आपके यहां बाप बेटा, मा, नौकर आदिमें से कोइ मरा है ? तब उसे उत्तर आश्चर्य पूर्वक मिलता कि मरोंकी संख्या बहुत जियादा है और जिन्दाओं की कम, कोई कहता हमारे पिताका देहान्त होगया कोइ कहता मेरा पुत्र जाता रहा, कोई कहता मेरे स्वामीका स्वर्गवास हो गया, कोई कहता मेरा नौकर मर गया है ॥

जिस घरमें कोई न मरा हो ऐसा घर उसे एक भी न मिला इससे वह थक गई उसके मनसे शंका दूर हुई उसने मरे हुए बच्चेको जंगलमें छोड़ा और बुद्ध देवके पास गई और नमस्कार कर पास बैठी बुद्धने पूछा कि क्या तू सरसों लाई ? उसने कहा हे प्रभो! लोग कहते हैं कि हमारे घर मरो की संख्या ज्यादा

है और जीते हुओं को कम इसके बाद बुद्धने उसको संसारके पदार्थोंकी अनित्यता और क्षणिकताका का ज्ञान दिया और समझाया कि संसारमें जितने पदार्थ देख पड़ते हैं नाशवान् हैं ॥

परन्तु ऐसे विचार क्षणमात्रके लिये हृदयमें पैदा होकर लय हो जाते हैं। मनुष्य फिर सांसारिक पदार्थोंके मोहमें पड़ जाता है, दुःखसे उसमें ऐसे विचार उत्पन्न होते हैं और दुःखका अदृश्य होनेसे वे भी कारण अदृश्य हो जाते हैं। क्योंकि अभी तक उस मनुष्यको पूर्ण ज्ञान नहीं हुआ होता जिससे कि वह अदृश्यको भी समझ सके ॥

मनुष्यकी आत्मा सच्चिदानन्दमय है। वह आनन्द स्वरूपी है। वह आनन्दको ही चाहता है। वह उसे ही खोजता है कस्तूरी मृग अपनी नाभिमें कस्तूरी होने पर भी कस्तूरीकी सुगन्धिसे आकर्षित हो उसे सारे जंगलमें ढूंढता फिरता है परन्तु उसे इस बातका ज्ञान नहीं होता कि वह कहां मिलेगी। इसीसे वह सब जगह भटकता फिरता है वैसे ही आत्मामें स्वयमेव आनन्द है परन्तु उसे इसका ज्ञान नहीं होनेसे वह बाहरके विषयोंमें सुखकी प्राप्तिके लिये ढूंढता फिरता है यहां सुख नहीं मिला तो वहां सुख

को ढूढना है इस बातको स्पष्ट करनेके लिये एक ही इन्द्रियके विषय के बारेमें विचार करें जैसे हम स्मवृत्तिको ही लें पहले स्वादिष्ट भोजन स्मवृत्तिको आनन्द देनेवाला होता है और उसीसे मनुष्य उसमें सुख मानता है। स्वाद लगनेसे उस पदार्थको खूब खाने लगता है। उसकी जीभ ऐसे पदार्थको खानेके लिये लार टपकती है। हदसे जियादा मनुष्य भोजन कर लेता है। परिणाम यह होता है कि अजीर्ण होजाता है या किसी तरहकी उपाधि खड़ी हो जाती है। अब उसे मालूम होता है कि जिसे मैंने सुखकर माना था उसमें मेरे तो दुरुपयोग करनेसे दुःख पैदा हुआ, इसमें सुख नहीं, चलो कोई दूसरी चीज ढूढे बाकी इन्द्रियों के विषयोंकी यही दशा है। ये सब स्वादके विषय की भांति दुःख गर्भित है। भगवद्गीतामें कहा है —

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्ण सुखदुःखदाः
आगमापायिनो नित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत!

शीत उष्ण सुख और दुःख देनेवाले इन्द्रियोंके स्पर्श नित्य दुःख देनेवाले हैं। हे अर्जुन! तू इन्हे सहनकर।

इस भांति स्वयं दुःख पानेपर मनुष्यको अनुभव होता है कि जिन२ वस्तुओंको मैं सुखकर मानता था आखिरकार वे दुःख देनेवाला ही है। और ऐसे उन पदार्थोंकी ओर विराग पैदा हो जाता है।

ऐसे एक दो दफे दुःख होनेसे ही पदार्थकी अनित्यताका--असारताका यथार्थ रीतिसे बोध नही होता। पीछे मनुष्य उनकी ओर खिंच जाता है। परन्तु जब बार २ खूब भारी २ संकट पड़ते हैं तभी मन उन २ पदार्थोंसे छूट जाता है। इस तरहसे जो अनुभव होता है वह मनुष्यको शुद्ध मार्गकी ओर ले जाता है।

केवल ज्ञानसे--उपदेशसे जिनको वैराग्य उत्पन्न हुआ हो ऐसे मनुष्य तो विरले ही देखनेमें आते हैं। जिन को पूर्वजन्मके दृढ संस्कारहो ऐसे पुरुषोंको कदाचित् किसीके उपदेशसे वैराग्य उत्पन्नहो जाय परन्तु सामान्य नियमसे तो ऐसा ही कहा जा सकताहै कि जब मनुष्य अपने अनुभवसे किसी भी वस्तुको असार,तुच्छ, अनित्य और परिणामसे दुःखदायक समझताहै तभी उस परसे उसका मन उतर जाताहै और आत्मा और आत्मिकगुणो की ओर उसका मन लगता है। इस नित्य और अनित्य वस्तुके भेद बतलाने वाले ज्ञानको शास्त्रमें विवेक कहते हैं। जिस मनुष्यमें विवेक उत्पन्नहो जाता है वह संसार के किसी भी पदार्थके लिये अपनी आत्माके किसी भी गुणको मलिन करने वाला कोई भी काम कभी न करेगा जिससे आत्मिक शक्तियोंका विकाश हो और आत्माके स्वभाविक गुणोका प्रदुर्भावहो वह ऐसे मार्गको स्वीकार करता है। और सुख दुःखका समाधान उसके हृदयको हो

जाताहै। वैराग्यसे सुख दु खका समाधान कैसे होताहै इसके बारेमें एक दृष्टान्त देते हैं।

एक समय मगध देशके राजाका देहान्त होगया उसकी गद्दी पर उसके पुत्र भद्रसिंहको बिठाया गया उस समय उसके कंठमें एक रत्नसे जड़ा हुआ तावीज भी पहनाया गया। यह तावीज वंशपरम्परासे चला आता था। यह तावीज राजाके गलेमें क्यों पहनाया गया है इसकी किसीको भी खबर न थी। परन्तु इस राज्य का यह दस्तूर था कि जब कोई रईस गद्दी पर बैठे तो उसके कंठमें इस तावीजको पहनाया जाय और रईस भी इसे जीतेजी इस तावीजको अपने पास सदा रखे भद्रसिंहने भी इस तावीजको अपने कंठका भूषण किया।

कुछ समय बिताने पर मालवेके पराक्रमी राजा वीरसिंहने मगध देश पर चढ़ाईकी और उसने मगध देशकी सेनापर विजय पाई। भद्रसिंहने जब देखाकि मेरे सैनिक भग गये और अब विजय पानेकी कोई आशा नहीं है तब वह अपने प्राणोंको बचानेके लिये कुछ अपने विश्वासपात्र मनुष्योंके साथ कोटके पिछले मार्गसे निकल गया। उसपर चिन्ताकी छाया पड़ गई थी। वह एक वृक्षकी छायाके नीचे विश्राम लेनेकोबैठा और अपनी पूर्वकी स्थिति और वर्तमान दशाका वि चार करने लगा। भूत और वर्तमान कालका चित्र उसकी

ऐसे एक दो दफे दुःख होनेसे ही पदार्थकी अनित्यताका—असारताका यथार्थ रीतिसे बोध नहीं होता। पीछे मनुष्य उनकी ओर खिंच जाता है। परन्तु जब बार २ खूब भारी २ संकट पड़ते हैं तभी मन उन २ पदार्थोंसे हट जाता है। इस तरहसे जो अनुभव होता है वह मनुष्यको शुद्ध मार्गकी ओर ले जाता है।

केवल ज्ञानसे—उपदेशसे जिनको वैराग्य उत्पन्न हुआ हो ऐसे मनुष्य तो विरले ही देखनेमें आते हैं। जिनको पूर्वजन्मके दृढ संस्कारहो ऐसे पुरुषोंको कदाचित् किसीके उपदेशसे वैराग्य उत्पन्नहो जाय परन्तु सामान्य नियमसे तो ऐसा ही कहा जा सकताहै कि जब मनुष्य अपने अनुभवसे किसी भी वस्तुको असार, तुच्छ, अनित्य और परिणाममें दुःखदायक समझताहै तभी उस परसे उसका मन उतर जाताहै और आत्मा और आत्मिकगुणोंकी ओर उसका मन लगता है। इस नित्य और अनित्य वस्तुके भेद बतलाने वाले ज्ञानको शास्त्रमें विवेक कहते हैं। जिस मनुष्यमें विवेक उत्पन्नहो जाता है वह संसारके किसी भी पदार्थके लिये अपनी आत्माके किसी भी गुणको मलिन करने वाला कोई भी काम कभी न करेगा जिससे आत्मिक शक्तियोंका विकास हो और आत्माके स्वभाविक गुणोंका सद्भावहो वह ऐसे मार्गको स्वीकार करता है। और सुख दुःखका समाधान उसके हृदयको हो

जाताहै। वैराग्यसे सुख दुःखका समाधान कैसे होताहै इसके बारेमें एक दृष्टान्त देते हैं।

एक समय मगध देशके राजाका देहान्त होगया उसकी गद्दी पर उसके पुत्र भद्रसिंहको बिठाया गया उस समय उसके कंठमें एक रत्नसे जड़ा हुआ तावीज भी पहनाया गया। यह तावीज वंशपरम्परासे चला आता था। यह तावीज राजाके गलेमें क्यों पहनाया गया है इसको किसीको भी खबर न थी। परन्तु इस राज्य का यह दस्तूर था कि जब कोई रईस गद्दी पर बैठे तो उसके कंठमें इस तावीजको पहनाया जाय और रईस भी इसे जीतेजी इस तावीजको अपने पास सदा रखे भद्रसिंहने भी इस तावीजको अपने कंठका भूषण किया।

कुछ समय बिताने पर मालवेके पराक्रमी राजा वीरसिंहने मगध देश पर चढ़ाईकी और उसने मगध देशकी सेनापर विजय पाई। भद्रसिंहने जब देखाकि मेरे सैनिक भग गये और अब विजय पानेकी कोई आशा नहीं है तब वह अपने प्राणोंको बचानेके लिये कुछ अपने विश्वासपात्र मनुष्योंके साथ कोटके पिछले मार्गसे निकल गया। उसपर चिन्ताकी छाया पड़ गई थी। वह एक वृक्षकी छायाके नीचे विश्राम लेनेकोबैठा और अपनी पूर्वकी स्थिति और वर्तमान दशाका विचार करने लगा। भूत और वर्तमान कालका चित्र उसकी

आपणेके सामने आगये। उस समय उसकी दृष्टि उस रत्न जडे हुए तावीज पर पडी। उसने उस पर बहुत कुछ तर्क किया पर कुछ ज्ञात नही हुआ। आखिरकार उसने उस तावीज को तुडाया। उसमेसे एक पुराना भोज पत्र का टुकडा निकला। राजाने उसे बडी सावधानीसे उठा कर देखा उसपर ये शब्द लिखेथे "इदमपिगमिष्यति" This too shall pass away यह भी चला जायगा। क्या चला जायगा? मेरे पास जानेको अब रहा ही क्या है? इस तरह उसने उन शब्दो पर विचार किया अन्तमें उसे यह अर्थ सूझा कि "यह मेरा पराजय (Defeat) भी चला जायगा। अर्थात् में विजयी होऊंगा" इस विचार से उस में नवीन पराक्रम आया निराशामें आशाके चिन्ह दिखाई दिये। उसे मालूम होने लगा कि अब मेरा जय होनेवाला है वीरपुरुषों में जब आशा–उत्साह आता है तब वे क्या नहीं कर सकते? कैसा ही कठिन कार्य हो उन्हे सरल जान पडता है।

भद्रसिंह धीरे २ नवीन लश्कर इकट्ठा करने लगा और लश्कर इकट्ठा कर मगध पर चढाई कर बैठा। परिणाम यह हुआ कि उसने वीरसिंहको वहांसे निकाल दिया। और अपने राज्यपर फिर अधिकार कर लिया। इससे उसे बडा आनन्द हुआ, बडा हर्ष हुआ

उसके सन्तोषका ठिकाना न रहा परन्तु तत्क्षण उसकी दृष्टि उस तावीज पर पड़ी। उसे दिखाई दिया कि "यह भी चला जायगा" इसमें उसके हृदयपर यहां प्रभाव पड़ा यह विजय भी चला जायगा, इसमें हर्ष क्यों मानना चाहिये? अच्छी बुरी दशा आती ही रहती है इस विश्व में दुःख सुख हुआ ही करते हैं। "कस्यैकान्त सुखमुपनत दुःखमेकान्ततो वा" न कोई सदा सुखी रहता है और न कोई सदा दुःखी, इस वास्ते सम्पत्तिके समय किसी को भूल कर स्वच्छन्दी कृष्णा न होजाना चाहिए, क्योंकि ऐसा करनेमें आत्म संयमका गुण नष्ट होता है। और न दुःखके समय ग्लान होकर अपने पुरुषार्थको खोना चाहिए। परन्तु दुःख और सुखके समयमें "यह भी चला जायगा" ऐसा विचार मनका समाधान करना चाहिए

वर्तमान समयमें बड़े कहलाने और मान पूजा पानेके लिये वैराग्य वृत्ति धारण करने वालों के उदाहरण भरे पड़े हैं। ऐसो होके लिये कहा गया है कि –

वैराग्यरङ्ग परवञ्चनाय–
धर्मोपदेशो जनरञ्जनाय ॥

औरोको धोखा देनेके लिये वैराग्य और मनुष्यों के मनरञ्जन करनेके लिये धर्मोपदेशका स्वीकार करने

वाले कभी आत्महित नहीं कर सकते । बल्कि पवित्र भेषके आसरेसे दुनियाको उलटे मार्गपर लगाते हैं। ऐसे उपदेशक पत्थर तुल्य हैं । स्वय डूबते हैं और दूसरोंको भी ससार समुद्रमें डुबाते हैं। परन्तु जो सम मुख अपना भला किया चाहते हैं उनके आचार विचार समान होते हैं । वे जगतकी असारताका अनुभव कर स्वय अनुभव कर दूसरोंको भी उसका उपदेश करते हैं । स्वय वैराग्यवृत्ति धारणकर दूसरोंको धारण कराते हैं।

जो सच्चे वैरागी हैं वे ही रागजनक वस्तु प्राप्त होने पर भी उनमें लिप्त नहीं होते और जैसे कमल पानीमें उगता है तो भी उस से पृथक रहता वैसे ही वे भी ससारमें रहकर भी उसके विकारोंसे दूर रहते हैं । ऐसे ही मनुष्य मुक्ति पा सकते हैं। विवेक चूडामणि मे ठीक कहा है कि —

विषयाशा महापाशाद्यो विमुक्त' सुदुस्त्यजात् ।
स एव कल्पते मुक्त्यै नान्य' षट्शास्त्रवेद्यपि॥

आपात वैराग्यवतो मुमुक्षून्,
भवाब्धिपार प्रतियातु मुद्यतान् ।

आशाग्रहो मज्जयते ऽन्तराले
निगृह्य कण्ठे विनिवर्त्य वेगात्

जिसका त्याग करना कठिन है ऐसे विषयोंकी आशारूपी फांसीसे जो मनुष्य छूट गया है वही मनुष्य मोक्ष पानेका अधिकारी है-और नहीं, फिर चाहे छहों शास्त्रोंका जानने वाला ही क्यों न हो?

अदृढ वैराग्य वाले जो मुमुक्षु संसार समुद्रका पार पानेको तत्पर हो जाते हैं उन्हें आशारूपी मगर कंठ में पकड़ कर मध्यसे बड़े वेगसे डुबा देता है।

जिस मनुष्यको सच्चा वैराग्य नहीं हुआ है ऐसे मनुष्य जो मोक्ष पानेको तत्पर हो जाते हैं तो उन्हें आशारूपी स्त्री मोहमें फसाती है, वे किसी न किसी भांति माया स्त्रीके आधीन हो जाते हैं। जब तक हृदयमें आशा है तब तक कल्याण मार्ग दूर है। इस लिये आत्माके सिवाय सब वस्तु अनित्य है इसका अनुभव पहले करना चाहिए।



पांचवी कुंजी—वीर्य (सत्व)



छठा प्रकरण ।

आत्मशक्तिका नाम वीर्य है । इसे सत्व भी कहते हैं । जिस मनुष्यके शरीर में वीर्य नही है वह मनुष्यत्वके योग्यही नहीं है । इसी तरह जिसे आत्मा होनेपर भी आत्म शक्तिमें और स्वबलमें विश्वास नही है वह धर्मके ऊंचे सोपान पर चढनेको असमर्थ है । शरीरके रोमरोममें कर्म लगे हुए हैं यह धर्मशास्त्रका विचार (प्रथम दृष्टिसे) मनुष्यको कम हिम्मत और निरुत्साही बनाता है । "इतने कर्मोंका नाश हम कैसे कर सकेंगे ?" यह विचार बडे भारी बलवानको निर्बल बना देनेको काफी है। परन्तु धर्मशास्त्रका मान्य किया हुआ दूसरा विचार भी भूल जाना न चाहिए । जिस कर्मको हमने बांधा है उसका नाश भी हम कर सकते है । आत्मा की शक्ति अनन्त है और इसीसे क्षणभर में आत्मा अनन्त कर्म समुदायका नाश कर सकती है । मच्छड सूर्यके सामने अट्टन देखते ही देखते बिखर जाते हैं । इसी तरह जब आत्मा अपना सच्चिदानन्द-

मय स्वरूपका अनुभव करता है तब उसकी शक्ति बड़ी प्रबल हो जाती है और वह चाहे जैसे कर्म क्यों न हो उन के दल को दूर कर देती है, श्रीमद्भगवद्गीता में लिखा है कि—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते यथा ॥

जैसे अच्छी तरह सुलगती हुई आग लकड़ियोंको भस्म कर डालती है वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि सब कर्मों को जला देता है। और भी कहा जाता है कि—

अहोऽनन्तवीर्योऽयमात्मा विश्वप्रकाशकः ।
त्रैलोक्य चालयत्येव ध्यानशक्तिप्रभावतः ॥

विश्वको प्रकाशित करनेवाला यह आत्मा अनन्त शक्तिवाला है और ध्यान शक्तिके प्रभावसे यह तीनों लोकको चला सकता है इससे हमें चाहिये कि हम आपत्तियां पड़ने पर भी अनेक विघ्नोंके आनेपर भी आत्मविश्वासको न छोड़ें। क्योंकि आत्मविश्वास न होनेसे हम किसी भी महत्वके कामको नहीं कर सकते, किसी भी महापुरुषके जीवनचरित्रको पढ़िए, आपको सहजमें मालूम होगा की उसमें और गुण हो या नहीं आत्मविश्वासका गुण अवश्य होगा। जिस मनुष्यको आत्मबलमें —अपने सामर्थ्यमें विश्वास नहीं है वह कभी महत्वका काम कर ही नहीं सकता।

व्याख्यान देने वालेको इस गुणकी आवश्यकताहै। लिखनेवालेको इस गुणकी आवश्यकता है । युद्धवीर को इस गुणकी आवश्यकता है। मुनिजनभी इसगुणके विना आत्मकल्याण कर नहीं सकते, कोई महत्वका कार्य जिसे इस संसारको अचंभेमे डाल दें ऐसा कहे यह इस गुणके अभावमें पूर्ण नहीं हो सकता। इसलिये हम जिस सोपान खडे हों उससे आगे हिम्मत कर चढना चाहिये।

"मुझसे क्या हो सकता है ?,, "मे क्या कर सकता हू ? " ऐसे विचार रखने वाला मनुष्य कभी अपने निश्चित कार्यमें सफल नहीं होगा, कहनावत है "रोता जाय सो मरे की खबर लावे" यह कहनावत ऐसे ही पस्त हिम्मत आदमियो के लिये है ।

मैं यह कहना नही चाहता कि हम एकाएक पहले सोपानसे सातवें सोपानको चढनेके लिये उछल कर अपने पैरोको तोड वैठें, परन्तु मेरे कहनेका अभिप्राय यह है कि आत्मशक्ति में विश्वास रखकर सीढी दर सीढी चढते जाना चाहिये, धीरे २ बडे २ पर्वतो के पार हो सकते है, जो ऊपर के सोपान पर चढे वे भी हमारे जैसे ही मनुष्य थे, वे भी आत्मिक बल से ही उस दरजे पर पहुचे थे, आत्मशक्तिमें विश्वास रखकर चलने से हम भी सफल मनोरथ हो जायगे, "हिम्मते

मरदां मद्दे खुदास्त" जिस कामको एक पुरुष कर सकता है उस काम को दूसरा न कर सके इस को कोई वजह नहीं है, इसलिये दूसरों का भरोसा छोड़ आत्म बल के विश्वास पर हमें काम करना चाहिये कारण कि आत्मा के लिये कोई काम असाध्य नहीं है सारे जगत् का अनुभव हम पाचों इन्द्रियों से करते हैं, इन्द्रियों का स्वामी मन है और मनका स्वामी आत्मा अतएव आत्मा त्रिभुवनका स्वामी है, वही त्रिभुवनाधीश मेरे शरीर में बैठा हुआ है, जो ऐसा विचार दृढ़ता से आवे तो मनुष्यकी हिम्मत और धैर्य का पार ही न रहे।

ग्रीकका विद्वान डेमास्थेनीस पीछे से बड़ा भारी वक्ता हो गया था, वह पहले पहल जब राजसभा में बोलने को उठा तब उस पर सब लोग हंस पड़े उस समय उसने आत्मशक्तिमें विश्वास होनेके कारण कहा कि "आप भले ही मुझ पर इस तरह हंसे परन्तु आगे चल कर आप ही मेरी प्रतिष्ठा करेंगे" बोलते वक्त उसकी जीभ अटकती थी, उस ने नदी के किनारे जा मुहमें कंकर डाल वैसी ही बोलना शुरू किया इस तरह अभ्यास करते २ वह एक प्रसिद्ध वक्ता हो गया जो उसमें आत्मविश्वास न होता तो वह प्रसिद्ध वक्ता

न होता, जो उसने निराश होकर दूसरीवार खोलने का यत्न न किया होता तो वह कभी अपने काम में सफल मनोरथ न होता।

पहले प्रयत्नमें ही मनुष्य सफलता पाजाय ऐसा कोई नियम नहीं है, चाहे तुम्हें सफलता न मिले परन्तु प्रारम्भ किये हुए कार्य को कभी न छोड़ो, तुम्हें चाहे हजारवार निष्फलता हो परन्तु काम को न छोड़ो।

विघ्नै पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः।
प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति॥

उत्तम मनुष्य विघ्नों से बार २ निष्फलता पाने पर भी आरम्भ किये हुए काम को नहीं छोड़ते, ऐसा होने से कभी न कभी उस काम में सफलता मिल ही जाती है, चाहे तुम्हें यह मालूम हो कि हमारे काम का परिणाम नहीं निकला परन्तु यह निश्चय रक्खो कि ऐसा नहीं है, आप विजय पाने के समीप चले जाते हो, अन्ततः आत्मा विजयी है, जीत अवश्य मिलेगी, श्रीमति मिसिस एनीबेसेंटने लिखा है —

"Have faith in the ultimate triumph of the evolution of the soul within you, which nothing can finally frustrate."

अन्तत आपकी अन्तरात्माकी सत्तातिका विजय अवश्य है इस पर श्रद्धा रखिये क्योंकि अन्तमें उस के आडे कोई विघ्न ही न रहेगा मोहराजा या दुनिया के विषयरूपी सुभट आत्माको अपने जालमें फसावे परन्तु आत्मसिंह जब अपना सच्चा स्वरूप प्रकट करेगा जाल स्वयमेव टूट जायगा और भूतसे जो मैत्री देख पडता है जाता रहेगा उस समय अनुभव हो जायगा कि वही शुद्धबुद्धमुक्त स्वरूप हू।

श्रीमद् हेमचन्द्राचार्यने कुमारपाल राजाको ज्ञान दिया था कि—

> प्रयातु लक्ष्मीचपलस्वभावा,
> गुणा विवेक प्रमुखा प्रयान्तु।
> प्राणाश्च गच्छन्तु कृतप्रयाणा,
> मा यातु सत्वन्तु नृणा कदाचित्॥

चाहे चपल लक्ष्मी चली जाय, चाहे विवेकादिक गुण न रहें और प्रयाणोन्मुख प्राण भी निकल जाय परन्तु मनुष्य का सत्व कभी न जाना चाहिये, "सत मत छोडे सइया सत छोडता पत जाय" यो तो सत्व शब्दके अनेक अर्थ हैं परन्तु यहा पर इस का व्यवहार दो अर्थमें हुआ है अव्वल आत्मश्रद्धा और दूसरे वीर्य जबतक मनुष्यमें आत्मश्रद्धा है तबतक वह कभी

डरता, चाहे उसे सम्पूर्ण संसार क्यों न छोड़ दे, आत्मशक्ति में श्रद्धा रखने वाला मनुष्य सम्पूर्ण जगत पर आत्मबलसे अपनी सत्ता रखता है, सब गुण आत्माके आधीन हैं इस वास्ते चाहे मृत्यु हो जाय परन्तु आत्मिक बलका नाश न करना चाहिये, इसके साथ ही कुमारपाल को उपदेश दिया गया कि आत्मबल की भांति शारीरिक वीर्य रक्षाकी भी आवश्यकता है।

वीर्य मनुष्यके शरीरका राजा है, जैसे राजा बिना राज्य में अन्धाधुन्धी फैल जाती है, राज्य निरर्थक हो जाता है वैसे ही वीर्यहीन मनुष्य निस्तेज हो जाता है उसके शरीरमें अनेक रोग हो जाते हैं, शरीर के सातों धातुओं में वीर्य मुख्य है, उसके बलसे शरीर के सब यन्त्र ठीक २ चलते हैं, परन्तु कहते हुए दुःख होता है कि उसकी-वीर्यकी ठीक २ रक्षा आजकल नहीं की जाती, उसका बुरी तरह नाश किया जा रहा है इस से हम उचित समझते हैं कि भावी सन्तान के लिये दो बातें लिखें।

बचपनसेही निष्कलंक रीतिसे ब्रह्मचर्य का पालन किया जावे-बराबर वीर्यकी रक्षा की जावे, कसरत कर शरीर के अंग प्रत्यंगकी पूर्णता कीजावे और पुष्टिप्रद सादा खुराक खाने में आवे तो वृद्ध होने तक मनुष्य शरीर दृढ और बलवान रहेगा इसमें कुछ आश्चर्य

नहीं है जो भोजन हम करते हैं उसे जठराग्नि पचाती है और उसका रक्त बन जाता है, उस खूनका वीर्य बनता है, वीर्यसे जठराग्नि प्रज्वलित होती है इस भांतिवीर्य और जठराग्निका परस्पर व्यवहार है। वे एक दूसरेके सहायक हैं। परन्तु इनमेंसे जो एकमें भी विकार अवस्था होनेसे सब शरीरके रचनामें फरक पड़ जाता है॥

प्राचीन समयमें जब तक विद्यार्थी पढ़ते थे तब तक अखंड ब्रह्मचर्य पालन करते थे, इसीसे वे बहुवीर्य और ऊर्ध्वरेता कहे जाते थे। वीर्यके बंधनसे और उसका कुनागसे व्यय होनेसे वह जठराग्निको प्रदीप्त कर शरीरके सब भागोंको बल देता था, इसीसे प्राचीन पुरुषोंके शरीरकी स्थिति बहुत अच्छी थी और इसी से जिस शक्तिसे दिनरात विद्यार्थियोंको काम पड़ता है वह मेधाशक्ति तीव्र और बलवती रहती थी। उनका अभ्यास अच्छा होताथा, उनकी स्मरणशक्ति ऐसी होती थी कि जिसका हाल सुन आश्चर्य होता है और कभी कभी तो हम उसके सत्य होनेमें ही शंका कर बैठते हैं। ऐसा होनेका कारण हमारी शारीरिक निर्बलता और उससे उत्पन्न हुई दिमागकी कमजोरीहै॥

प्राय ऐसा भी होता है कि बालक कुसंगतिके प्रभावसे दुराचरणके फंदेमें पड़ जाते हैं। दूसरे बच्चों

के दुराचरण देखकर ये भी कुचेष्टाओंसे वीर्यपात करने लग जाते हैं। भविष्यमें इसका परिणाम भयकर हानिकारक होगा। इसका इन्हे स्वप्नमें भी विचार नहीं होता। वे ऐसी २ क्रियाओंको एक प्रकारका खेल समझते हैं परन्तु 'पड़ी टेव टाली छूट नहीं टलती,, इस वाक्य के अनुकूल एक बार पड़ी हुई आदत बराबर कायम रहती है। इस तरह बचपन में ब्रह्मचर्य का भङ्ग होता है, वीयका सत्यानाश होता है॥

हे निर्दोष अज्ञान बालको! तुम कैसे कुआचरण के फदेमें पड़ गये हो कि खोटे मार्गपर चल कर अपने शरीरके राजा वीर्यका किस तरह नाश करते हो इस का तुम्हें कुछ भी विचार नहीं है। ऐसे दुर्गुणमें पड़े हुए बालक सचमुच दयापात्र है, मावाप और बड़े बुढोंका इस विषयमें बड़ा गभीर कर्तव्य है कि इस बातपर पूरा २ लक्ष दें कि उनके बालक कैसे साथियों की सगतिमें रहते हैं। यदि कोई रोगआदिके कारण न होनेपर भी बालक कमजोर होता जान पड़े तो इस बातकी तलाशी करना चाहिये कि बच्चेमें कुटेव तो न पड़ गई है तलाशो करने पर जो कुटेव हो जान पड़े तो उसके महा दुःखदायक परिणाम पर विचार कर फोरन बच्चेको कुटेवसे छुड़ानेकी तरकीब करना चा-
~~ अफसोस! अफसोस! बेहूदा शरम इस बारेमें

सत्यानाश करती है और भविष्यत कब तक हानि करती रहेगी यह कहा नहीं जा सकता है ऐसी चाल ही कैसे की जाय, ऐसे हानिकारक विचार को छोड़ देना चाहिये और अज्ञान वश शरीर सम्पत्तिके नाशना कुएमे पड़े हुये बच्चोका उद्धार करना चाहिये, यह बड़ोका फरज है ॥

जो मा बाप इस कर्त्तव्यका पालन न करें तो वे अपने एक महत्वके कर्त्तव्यसे विमुख होते हैं, ऐसा कहा जायगा॥

वीर्यस्रावद्वारा शरीर सम्पत्तिके नष्ट होनेका इस समय एक और भी कारण उत्पन्न हो गया और वह भी प्रबल कारण है। वह यह है कि घृणित उपन्यास, शृङ्गारसे लबालब भरे हुए नाटकोंका देखना आदि, ये सब काम वासनाको उत्तेजित करते हैं और मनुष्यके हृदय में कामका राज्य स्थापन कर देते हैं। उस समय मनुष्यका मन आधीन नहीं रहता। इन्द्रियें मनको अ-पने २ विषयकी ओर ले जाती हैं। कामदेवके आधीन हुए मनुष्यका वीर्य रुक नहीं सकता, चाहे फिर वह किसी भी तरह निकले।

कितनेही न्यायी और विचारशील मनुष्य यद्यपि परस्त्रीको मा, बहिन, बेटीकी दृष्टीसे ही देखते हैं ऐसा होनेपर भी उनमेंसे कई एक स्वस्त्रीमें इतने लोलुप

रहते हैं कि वीर्यकी होती हुई अपार हानिका वे विचार भी नहीं करते केवल व्यभिचारसे ही वीर्यका नाश नहीं होताहै, वीर्यका नाश होता है इदपार विषयाशक्तिसे यह बात भूलने योग्य नहीं है।

कितने ही बच्चों के बलका नाश बाल विवाहसे हो जाता है जो समय वीर्यके पकने का होता है उसी समय वीर्यका अयोग्य व्यय कर दिया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि वे जवानीमें ही बुड्ढे हो जाते हैं उनके जानु बैठ जाते हैं। आखोंका तेज घट जाता है, मुह पीला पड जाता है। शरीरकी कान्ति नहीं रहती शरीरके धातुओंके राजाके नाश होनेसे जठराग्नि मन्द पड़ जाती है। खाया पिया नहीं पचता, खून साफ नहीं बनता और न नवीन वीर्य पैदा होता है। इस भांति अनर्थ परम्परा होती जाती है। वीर्यका मस्तिष्क के साथ बड़ा सम्बन्ध है। वीर्य नष्ट होनेसे ज्ञान तन्तु भी निर्बल हो जाते हैं। इससे बाल विवाहके भेट चढे हुए बच्चे विद्याभ्यास भी अच्छी तरह नहीं कर सकते विद्या और स्त्री का दुगना बोझा पड़नेसे वे बिलकुल अशक्त हो जाते हैं। ऐसे स्थितिमें पढते रहने से वे न लोकका, भला कर सकते हैं और न अपना। उनका जन्म ही शारीरिक दुःखमय स्थिति में व्यतीत होता है।

आत्मश्रेय करनेके उनके विचार हृदयके हृदयमें ही रह जाते हैं क्यो कारण कि उन २ विचारोंको काममें लाने की शक्ति उनमें रहती ही नहीं है।

इन सब बातोका कारण ढूंढनेको हमें दूर नहीं जाना है। इस अयोग्य वीर्यनाशको रोकनेके उपाय क्यों नहीं किये जाते हैं? मा बापका दोष है या बालकोंका यह विचार करने योग्य प्रश्न है। मेरे विचारमें तो लौकलाज बेहूदा शरम और इस विषयके ज्ञानका न होना ही अनर्थका कारण है। बच्चोंको हम ऐसी बात कैसे कहें? होती हुई रीति क्यो कर तोडी जाय? ऐसे बातका कहना तो अश्लील है ऐसी बातें करनेसे निलज्ज कहे न जायगे? ये विचार ही खराबी पैदा कर रहे हैं। विवाह होनेके थोडे ही दिन बाद बेटे और बहूको एक घरमें सुलाते हुए तो मा बाप आदिको लज्जा नहीं आती (बल्कि अपना चातुर्य समझते हैं) और अपने बेटेकी शारीरिक सम्पत्तिका नाश न होकर रोग न बढे इसके बारेमें उपदेश देते हुए लज्जा आती है, ऐसे ज्ञान देने की हिम्मत वे क्यों नहीं करते? पश्चिम के देश में तो ऐसी २ शालायें हैं जहा इन विषयो पर व्याख्यान दिये जाते हैं। शरीरकी रचना सबन्धी व्यावहारिक ज्ञान दिया जाता है। परन्तु अफसोसकी बात है भारतमें इस समय बेहूदा शरम हानिकारक लोकमें उजाले पर चला है। साथ ही यह भी कहना पडेगा

कि शारीरिक तत्त्ववेत्ता भी अब बहुत कम हैं । सामान्य लोकमत कैसा ही क्यो न हो परन्तु यह बात विचार कर काममे लाने योग्य अवश्य है ऐसा २ पुस्तकें और इस विषयका ज्ञान जितना बढे उतना ही अच्छा नैतिक हिम्मतकी हम लोगोमें बडी कमी है। स्वतन्त्र विचार प्रकट करने वाले कहा मिलते हैं ? जब तक गडरिया प्रवाहको न छोडेंगे और "बापके खारे कुएका पानी पीना„ वाले विचारका त्याग कर जिस मार्गसे उन्नति हो उसे ग्रहण न करेंगे तब तक उदय की आशाके चिन्ह बहुत दूर है । यह मेरा मत अयोग्य नही है । हमसे ब्रह्मचर्य कैसे अच्छी तरह पालन हो सकता है ? किस मार्ग पर चलनेसे वीर्यकी रक्षा हो सकेगी ? वीर्य नाशका शरीर सम्पत्तिके नाश के साथ क्या सम्बन्ध है ? ऐसे २ विषयोको भिन्न २ प्रकार के प्रतिपादन करने वाला पुस्तकोका खूब फैलाव होना, चाहिये । भारतकी शारीरिक शक्तिकी कमीके समयमें वे बड़ी हितकारक होगी । सद्ज्ञानके फैलनेसे अवनतिके कारण दूर होगें और प्रजाका शारीरिक बल बढेगा ॥

जिनका शारीरिक बल और आत्मिक बल उच्च प्रकारका होगा वे भारीभारी सकट पडने पर भी अनेक विघ्नोके आनेपर भी उस पर विजय पायेंगे । सकटों पर जय पानेसे उनके बलमें वृद्धि होगी, और आगे चलकर वे और भी कठिन मार्गपर चल सकेंगे और अन्तमें अपने साध्य की सिद्धि कर सकेंगे ॥

छठी कुंजी—ध्यान।

सातवां प्रकरण।

प्रथम प्रकरणमें गुरुदेवके दिये हुए उपदेश में साधक जनको मालूम हो गया होगा कि ध्यानका मार्ग बड़ा टेढ़ा है, बिना किसी प्रकारका आसरा लिये बड़े भारी पर्वत पर चढ़ जाना जितना कठिन है उससे भी कठिन ध्यानका मार्ग है। ऐसा होने पर भी दयालु गुरुदेवने बताया था कि भूतकालमें अनेक सत्पुरुष इस मार्गको पार कर गये हैं और अब भी अनेक पुरुष इस मार्गपर चलते हैं। इस लिये इन वचनो पर विश्वास रखनेसे आत्मशक्तिमें विशेष विश्वास लगता है और कठिन मार्गपर चलनेकी ओर अभिरुचि उत्पन्न होती है।

ध्यान मार्गका प्रथम सोपान प्रत्याहार या इन्द्रियनिग्रह है, इन्द्रियां मनमाने मार्गपर जाती हों उन्हें रोककर मनके आधीन करनेका नियम प्रत्याहार है, दूसरे शब्दोंमें कहें तो मनकी आज्ञाके अनुकूल इन्द्रियां चलें ऐसे चरित्रका रखना ही ध्यानका पहला सोपान है।

मनके विरुद्ध इन्द्रियां कईवार अपना बल प्रकट करती हैं, मनुष्यके ज्ञानको वे भुला देती हैं अपने विषयकी तृप्तिके लिये मनको साधन बनाती हैं। मन उस समय स्वामीके बजाय दास बनता है। कठोपनिषद्में लिखा है कि "शरीर रथ है, मन सारथी है, आत्मा रथमें बैठने वाला रथका स्वामी है, इन्द्रियां घोड़े हैं और इन्द्रियोंके विषय मार्ग हैं॥

इन्द्रियां रूपी घोड़े अपनी इच्छासे चाहे जिधर न जाने पावे इस भांति मनरूपी सारथीको उन्हें अपने वशकर लेना चाहिये। फिर मन चलावे उधरही जानेकी इन्द्रियोंको टेव पड़नी चाहिये। ऐसा करनेसे इन्द्रियां कुमार्ग पर जानेसे रुकेंगी और चित्तकी वृत्तियोंको रोकनेका काम सुगम हो जायगा ध्यानके अभ्यासियोंको इन्द्रियां वश करनेकी बड़ी भारी आवश्यकता है॥

इन्द्रियोंको वशमें करनेकी एक अनुभूत प्रणाली यहां पर लिखते हैं इस पर चलनेसे इन्द्रियां मनके आधीन हो जायगी और मनकी आज्ञानुसार चलेंगी वह अनुभूत प्रणाली यह है —

इन्द्रियकी इच्छाके विरुद्ध किसी एक भी काम करनेका दृढ निश्चय करो। और जब कोई इन्द्रिय प्रबल वेगमें हो अपने विषयकी तृप्तिके लिये तत्पर हो व

हो उसे पूरा करनेके लिये अत्यन्त उत्सुक हो इन्द्रिय का विषय सन्मुख हो और उसके पानेमें कोई प्रति कूल कारण न हो और तुम उसके ग्रहण करनेके लिये तैयार हो गये हो ऐसा समय हो, उस वक्त तुम इन्द्रियको तृप्ति देनेका काम बन्द रक्खो, उसे जता दो कि "तेरी अपेक्षा मैं विशेष शक्तिवाला और सत्ताधारी हूं। और तुम्हे तेरी वासना पूर्ण न करने दूंगा,, इस तरह अलग२ मौका पर अलग २ इन्द्रियों के सम्बन्धमें मशावरा डालते जाओ, ऐसा करते रहने पर शरीर और इन्द्रिया तुम्हारी उन्नतिमें बाधा न डालेंगी जब तक तुम्हें इसका अनुभव न होजावे कि शरीर और इन्द्रिया तुम्हारे दास है तुम्हारे नौकर हैं तुम्हारी इच्छानुकूल चलने वाले हैं तबतक ऊपर दिखाई हुई प्रणालीको काममें लाओ। मन जिस बातको धिक्कार दे ऐसे काम जो शरीर और इन्द्रिया तुमसे करावे तो तुम शरणाओ, मनकी आज्ञाको भूलकर इन्द्रियोंके आधीन होजाना मनुष्यत्व खोनेके बराबर है इस विचारको हृदयमें धारण करो, जो हम पाशव वृत्तियोंको(Animal instincts) अपने वशमें न कर सकें तो पशुओंमें और हममें रत्तीभर भी अन्तर नहीं रहता, हम पशु तुल्य ही हो जायगे, इस लिये आवश्यक है कि हम शरीर और इन्द्रियोंको वशमें करें।

जब मनुष्य शरीर इन्द्रियोंको वशमें कर लेता है, तब वह सच्चे ध्यान मार्गका प्रारम्भ करता है, ध्यान मार्गका पहला सोपान इन्द्रियनिग्रह है और उसका दूसरा परन्तु वास्तवमें पहला ही सोपान मनोनिग्रह है। वह एकाग्रता और एक चित्ततासे होता है, मन इन्द्रियो को वशमें रख सकता है परन्तु मनको वशमें करना बड़ा कठिन है मन बन्दर है भर्हा है हाथी का कान है, पीपल का पान है शरदृऋतु का बद्दल है क्योंकि वह अतिचञ्चल है अभी इस विषय में क्षण भर में दूसरे विषय में भ्रमता रहता है उसे वश में रखना सीधा और सहज नहीं है उस के लिये एकाग्रता यह सर्वोत्तम साधन है सफेद कागज पर काली बूंद लगाकर उस पर आंख को इतनी गाढ देना कि वह दुखने लगे माथा घूमने लगे सुध बुध जाती रहे यह एकाग्रताका अर्थ नहीं है परन्तु एकाग्रता का अर्थ तो यह है कि मनुष्य मन पर अपना ऐसा अधिकार करले कि उससे जो चाहे करावे जिस बात को स्थिर करना चाहे करले और जितने समय तक चाहे वहां रोक रक्खे। इन्द्रियो के निग्रह का नाम दम है और मनोनिग्रह का शम दम से शम विशेष कठिन है परन्तु वह न होसकने जैसा नहीं है जिन की इच्छा शक्ति (Will power) खूब प्रबल और अचल थी ऐसे बहुतसे महा

पुरुष मन को वश करने वाले पहले समय में हो गये हैं और इस समय में भी कहीं कहीं ऐसे महा पुरुष मिलते हैं।

अस्थिर मनका निग्रह करना कितना मुश्किल है इस बात का बहुत से मनुष्यो को विचार भी नहीं है जब तुम रस्ते में चल रहे हो या गाडी में बैठकर हवा खोरी को जा रहे हो तब तुम अपनी विचार परम्परा को एकाएक रोक दो और निश्चय करो कि तुम क्या विचार कर रहे थे और क्यो कर रहे थे ऐसा करने पर ज्ञात होगा कि पाच मिनट के अन्दर एकके बाद एक करके तुम्हारे दिमागमें कितने विचार आये और तुम्हें यह भी मालूम हो कि ये विचार तुम्हारे निजके नहीं थे वरन्तु और मनुष्य के छोड़े हुए विचारो की आकृतियां (Thought-Forms) थी जो तुम्हारे निरकुश मन में घुस गई थीं।

जो तुम किसी भी प्रकार की उच्च शक्ति को जागृत करने की इच्छा रखते हो तो सब से पहिले तुम्हें अपने मनको वश में करने की आवश्यकता है मनको उस की इच्छानुकूल खोल देने की अपेक्षा उस से कुछ काम देना अच्छा है।

जो तुम मनको किसी काम में न लगायें तो दूसरो के अनिष्ट विचार उस में घुस जायगे जिन का

घुसना बुरा है ध्यान मार्ग में प्रवेश करने के पहले हमें अपने मनको अपना नौकर बना लेना चाहिये क्योंकि उच्च प्रदेश में काम करने के लिये चैतन्य का मन बड़ा प्रबल साधन है ।

सामान्य मनुष्य के लिए मन को वश करने का काम कठिन से कठिन है क्योंकि मनको वश करनेकी न तो उन्हें आदत हुई है और न इस की आवश्यकताही उन्हें जान पड़ती है जैसे तुम्हारा मन तुम्हारे आधीन नहीं है वैसे ही तुम्हारा हाथ तुम्हारे आधीन नहीं तुम कुछ और कराना चाहो और यह कुछ और करे तो कैसी बीते ! तुम को मालूम होगा कि यह हाथ किसी काम का नहीं है तुम्हें मालूम होगा कि इसे लकवा हो गया ऐसे ही जो तुम अपने मन को वश में न कर सको तो वह मानसिक लकवा कहा जायगा इस लिये मन को एकाग्र और वश करने का अभ्यास करना चाहिये जिस से तुम उससे जो चाहो काम ले सको ।

मन की अस्थिरता और उसे स्थिर करने की वश करने की कठिनाई हमें ही मालूम नहीं होती हजारों वर्ष पहले अर्जुन को भी ऐसी ही कठिनता जान पड़ी थी उस ने कहा था कि—

ऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
स्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम्॥
चञ्चलं हि मनः कृष्ण, प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥

हे मधुसूदन ! साम्यभाव से सिद्ध होने वाला जो योग आप ने कहा उसको स्थिर स्थितिको मैं अच्छी तरह नहीं समझ सका क्योंकि मन चञ्चल है शरीर और इन्द्रियोंमें क्षोभ पैदा कर देने वाला है बलवान् है दृढ है वायु के वेग को रोकने की भांति इस का रोकना भी बड़ा कठिन है इस प्रश्न के उत्तर में मन को वश करने का उपाय श्रीमद्भगवद्गीता में यो लिखा है कि—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥

हे महाबाहु अर्जुन ! मनका वश करना कठिन और मन चञ्चल है परन्तु हे कुन्ती के पुत्र ! अभ्यास और वैराग्यसे वह वश होसकता है । जिसने अपनी आत्मा को वश नहीं किया है ऐसे पुरुषोंके लिये योग

निरोध का होना बहुत कठिन है, यह मेरा विचार है। परन्तु जिनकी आत्मा वशमें है और जो योगके लिये यत्न करते हैं वे पुरुष उपाय करनेसे योगको पा सकते हैं॥

योग दर्शन प्रणेता महर्षि पतञ्जलिने भी मनको वश करनेके यही दो उपाय बतलाये हैं "अभ्यास वैराग्याभ्यातन्निरोध„ अभ्यास और वैराग्यसे उन चित्त वृत्तियोंका निरोध होता है—योग होता है मन वश होता है॥

मनको वश करनेका और एकाग्र करनेका अभ्यास करनेकी बड़ी आवश्यकता है तुम अपने सांसारिक व्यवहार के प्रत्येक काममें मनको एकाग्र करनेकी आदत डाल सकते हो तुम कोई भी काम क्यों न करते हो वह फिर चाहे छोटा हो या बड़ा जल्दीका हो या देरका उसीमें मनको लगाकर करो जो तुम चिट्ठी लिखो तो मन तल्लीन कर दो जब तक वह पत्र पूरा न हो जाय मनको स्थिर रक्खो ऐसा करनेसे तुम अच्छी चिट्ठी लिख पाओगे स्नान करते समय तुम ऐसे विचार करो कि बाह्य मलके साथ ही आन्तरिक मल भी दूर हो जावें। आहार करते समय तुम ऐसी भावना करो कि यह अन्न पच जाय इससे मेरा शरीर

दृढ हो और जितेन्द्रियता आवे और मेरा शरीर मेरी इस भावनाके अनुकूल काम करनेमें समर्थ हो इत्यादि इस तरह प्रत्येक कार्यमें मनको एकाग्र करनेसे जिस ख्यालपर हम मनको लगाना चाहते हैं उसके सिवाय और विचारोंको रोकनेसे धीरे २ मन वश होजाता है।

मनको वश करनेकी दूसरी रीति वैराग्य है। वैराग्यका विशेष वर्णन हम पांचवें प्रकरणमें कर गये हैं इस वास्ते यहां पर विशेष न लिखकर इतना ही लिखते हैं कि संसारकी क्षणिक और अनित्य वस्तुओं पर वैराग्य आनेसे मन उनकी ओर आकर्षित नहीं होता कुछ वस्तु शरीर और कुटुम्बके निर्वाह केलिये चाहिये उन्हें पानेका मनुष्य मात्र यत्न करता है परन्तु उनके न मिलने पर सन्तोष वृत्ति धारण करता है, वाह्यपदार्थसे स्वतन्त्र होकर उसका मन अन्तरात्माकी ओर झुकता है। वाह्यपदार्थ उसे अच्छे नहीं लगते वैराग्यके रंगसे रंगे हुए रंगीले मनको वश करना बड़ा सुगम है। वह अपने आप आत्माकी तावेदारी कर, उसकी आज्ञाके अनुकूल चलता है॥

प्रत्येक मनुष्य मनको वश करनेकी शक्ति रखता है, परन्तु उसे केवल इस बातका विश्वास नहीं हुआ हुआ होता कि मुझमें यह शक्ति है। इस बारेमें यहां पर एक सच्चा दृष्टान्त देते हैं॥

एक समय अयोध्याके राजाने अपनी राजसभामें कहा कि अपने शहरके उत्तरके दरवाजे बाहर एक महात्मा आये हुए हैं । वे वहां वडके नीचे ठहरे हैं वे इतने ध्यानमें लवलीन रहते हैं कि उन्हें हमारे लगा ग लश्कर के निकल जानेकी भी खबर न हुई इसबात पर चार दरबारी मुस्करा उठे उन्हें यह बात असत्य जान पडी राजाने उस समय तो उन्हें कुछ न कहा परन्तु इस बातको सिद्ध कर दिखानेकी एक मनमाने मार्गको मनही मनमें स्थिर किया बाद सभा विसर्जन हुई ॥

एक रोज राजाने गुप्त रीतिसे उन दर्बारियोंके घरमें बड़े कीमती जडाउ जेवर रखवा दिये और दूसरे दिन जाहिर किया कि सरकारी खजानेमें चोरी हो गई है, जिसने चोरी की हो माल लेकर हाजिर हो जाय और माफी मांगे जो ऐसा नही करेगा और तलाशी लेने पर चोरी पकड़ी जायगी और तहकीकात से चोर साबित होगा तो उसे फांसी दी जायगी ।

उन दरबारियोंको क्या खबर थी कि माल उनके यहां है ? उन्होंने अपने घर को देखा ही नहीं थोड़ी देरके बाद जब कोई नहीं आया तब राजाने हुक्म दिया कि सब घरो की तलाशी ली जाय और जिसके

घरमें माल मिले वह बांधकर मेरे सामने लाया जावे सिपाही सब घरोंमें तलाशी लेते हुए उन दरबारियों के घर आ पहुंचे, उनके घरोंकी तलाशीमें वे जेवर निकल आये राजाकी आज्ञाके अनुकूल उनको बांध कर सिपाही उन्हें राजाके पास ले गये। ढिंढोरे के बमूजिब उन्हें फांसी का हुक्म दिया गया परन्तु जब उन्होंने दयाकी भीख मांगी और अपनी इस चोरीके विषयमें सर्वथा अज्ञानता बतलाई तब राजाने दया दिखलानेके तौर पर कहा कि जो तुम एक शर्त करो तो तुम्हें फांसीसे माफी दी जा सकती है, और वह शर्त यह है कि पानीसे लबालब भरे हुए ग्लासको लेकर तुम सारे शहरमें फिरो और ग्लासमेंसे एक बूंद भी पानी न गिरने पावे जो पानीकी बूंद भी गिर गई तो वहां पर साथ चला हुआ सिपाही तलवारसे सिर उड़ा देगा जीव किसको प्यारा नहीं होता? मौतसे कौन बचना नहीं चाहता? जैसे बने वैसे प्राण बचा ने इस विचारसे उन्होंने इस शर्तको भी मंजूर कर लिया चार ग्लास मंगवाये गये चारोंको लबालब भर चारों दरबारियोंको दिया उन्हें लेकर नगरमें डरते हुए चले इधर उस रीतिसे शहर वालोंको हुक्म दिया गया था कि आज शहरमें खूब आनन्द मनाया जावे इससे सारे शहरमें कहीं गाना कहीं बजाना कहीं क्या

अब किसी सद्गुणका ध्यान करनेके बजाय सब सद्गुणोंके केन्द्रस्थान रूप उच्चमें उच्च पुरुषका आलम्बन ग्रहण करो तुम कोई भी नाम क्यों न लो उससे उसके स्वरूपमें कुछ भी भेद नहीं पड़ता बुद्ध धर्मानुयायी बुद्ध का चिन्तवन करें, सनातन धर्मानुयायी श्री कृष्ण राम या शिवका चिन्तवन करें, जैन चौबीस तीर्थंकरों में से किसी एकका ध्यान करे या महाविदेह क्षेत्रमें विचरते हुए सीमन्धर स्वामीका ध्यान करे, किसी उच्च पुरुषको लीजिए परन्तु अपना मन उससे उच्च रखिये ।

जो पूज्य भाव, प्रेम और भक्ति तुम बता सको वह तुममें जिससे उत्पन्न हो सकती हो ऐसे ही एकाध महात्मा परम पुरुषका ध्यान करो पहले जो तुम सद्गुण पर ध्यान करते थे अब तुम अपनी उच्चभावनासे उस महापुरुषकी उत्तमसे उत्तम जैसी मानसिक तसवीर बना सकते हो बनाओ इस सर्वोच्च परमात्माकी ओर अपनी भक्तिका प्रवाह बहने दो तुम्हारी सारी शक्तिसे उस उच्च स्वरूपका अनुभव करनेका यत्न करो उसके साथ अपनेको एक करनेका यत्न करो और उसका आनन्द और ज्ञानका अनुभव करनेमें प्रवृत्त हो ऐसे निरन्तर करते रहने पर तुम्हें उच्च जीवनका अनुभव होगा अर्थात् समाधिकी एकाग्रतामें तुम अपनेको इस स्थूल शरीरसे निकला हुआ जान पाओगे तब तुम

अपनेको शरीरसे निकला हुआ पहले ही देखोगे तब तुम्हें मालूम होगा कि यह शरीर एक साधन मात्र है और देहाध्यास छूट जायगा दुनियाका स्वरूप ही और का और देख पड़ेगा।

सच्चा जीवन क्या है इसका तुम्हें पहले पहल तभी अनुभव होगा न भूख है न प्यास है न थकावट आदि हैं ऐसे सूक्ष्म शरीरमें प्रवेश होनेसे जो आनन्द और सन्तोष तुम्हें होगा उसके सामने दुनिया का कोई भी सुख कुछ नहीं है परन्तु यह उच्च स्थिति बहुत समय तक नहीं रहती फिर अन्धकार तुम्हारी आखोंके सामने आ जायगा तथापि दुनियाका स्वरूप पलटा हुआ रहेगा इस समय दुनिया बहुत ही कम आकर्षण कर सकेगी व जो तुम समाधिके लिये निरंतर यत्न करते रहोगे तो फिर तुम उस प्रकाशका अनुभव कर सकोगे इस समय प्रकाश और भी ज्यादा देर तक ठहर सकेगा ऐसे करते करते ऐसा समय आवेगा कि जब जागृत और निद्रा स्थितिके बीचका पड़दा बिल्कुल अदृश्य हो जायगा और तुम्हें अनुभव होगा कि—

या निशा सर्व भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

सब प्राणियोंकी जो रात है उसमें संयमी मनुष्य जगता है और जिसमें प्राणीमात्र जगते हैं यह देखते

हुए मुनिके लिये रात है तुम सोते और जगते रातमें और दिनमें समानभावसे ध्यान रख सकोगे तुम रात और दिन परोपकारके शुभ कामोंको कर सकोगे इतना होने पर भी यह उत्तम स्थिति भी हमारा साध्य बिन्दु नहीं है यह तो निर्वाणसागर की एक बूंदके बराबर है तो भी इस स्थितिमें बहुत कुछ ज्ञान मिलेगा तुमने जिसका अनुभव नहीं किया था ऐसा बहुत कुछ अनुभव प्राप्त होगा ।

जो तुम निरंतर यत्न करते रहोगे और शुद्ध जीवन व्यतीत करोगे और जो जो ज्ञान और शक्तियां मिलें उन्हें परोपकारमें व्यतीत कर सदुपयोग करते रहोगे तो इस स्वप्नावस्थामें भी जो उच्च स्थिति सुषुप्ति अवस्था है तुम उसका अनुभव कर सकोगे और क्रमशः तुरीयावस्था निर्वाण दशा-मुक्ति भी पा सकोगे ।

तुम कहोगे कि इन सबको पानेमें बहुत वर्ष लगेंगे हम भी स्वीकार करते हैं कि बहुत वर्ष लगेंगे । कारण कि जिस स्थितिको प्राप्त करनेमें अनेक जन्म व्यतीत हो उसे पानेको तुम बड़े आतुर हो रहो, परन्तु इसमें कोई सन्देह न हो कि तुम इस बारेमें अपना जितना समय लगाओ, अपनी जितनी शक्ति खर्च करो उसका सदुपयोग ही होगा, कौन मनुष्य

ऐसी स्थिति कितने जन्ममें पा सकेगा यह कोई नहीं कह सकता इस बातका आधार दो बातो पर है प्रथम तसमें आत्मबल कितना है और दूसरे उसके कर्म कितने रहे हैं तुम इसने वर्षमें स्वप्नावस्थामें पहुच जाओगे ये भी नहीं कहा जा सकता हा इतना कह सकते हैं कि तुम्हारे पूर्व पुरुषोने इस बातका यत्न किया था और वे सफल मनोरथ भी हुए थे सब महात्मा पहले तुम्हारे जैसे ही सामान्य मनुष्य थे और वे जैसे वे इस दर्जेको पहुच सके वैसे ही तुम भी पहुच सकते हो कितने ही शीघ्रतासे पहुच सकते हैं तो कितने ही धीरतासे पहुचते हैं यह राजमार्ग सब समय सबके लिये खुला हुआ है क्योंकि ये दशायें आत्माकी ऋद्धिया हैं, आत्मा नित्य होनेसे उसकी ऋद्धिया भी नित्य हैं, परन्तु वर्णन किये हुए उच्चपदको पानेके लिये सबसे पहले इन्द्रिय निग्रह करना चाहिये।



आठवां प्रकरण ।

सातवीं कुंजी–प्रज्ञा (ज्ञान)



स प्रकरण में हम अखीरी–सातवीं कुंजी प्रज्ञाका विचार करेंगे । सब कुंजियों का आधार सब कुंजियोंका साध्य बिन्दु यह ज्ञान की कुंजी है हम जो कुछ यत्न करते हैं उनका उद्देश्य देखें तो यह जान पड़ेगा कि हम सुख चाहते हैं प्रत्येक मनुष्य सुखके लिये ही प्रयत्न करता है परन्तु उसे इस बातका ज्ञान नहीं होता कि सुख मिलेगा कहां से ? इसीसे वह जुदी २ वस्तुएं पाने को लगा रहता है परन्तु इस वस्तुको पाया कि उस वस्तुके पानेको लगता है पहली वस्तुका मोह दूर, होता है जिसे वह सुखकारक जानता था वह, सुखकारक नहीं मालूम होतो उसे उसमें दुःख देख पड़ता है इसीसे वह दूसरी वस्तुकी ओर लपकता है जब तक आत्मज्ञान न हो तब तक सुखको ढूंढता फिरता है सच्चा सुख सच्चा आनन्द आत्मामें ही है यह बात सच है कि जगत्के पदार्थ भी सुख दे सकते हैं परन्तु वह सुख क्षणिक है क्योंकि एक प्रकारके सुख मिलने पर दूसरे प्रकार का सुख पानेकी इच्छा होती है इस लिये शाश्वत सुख पाने की इच्छा रखने वाले को

आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिये आत्मज्ञान पाने पर कुछ पानेको शेष नहीं रहता यही सुख की सीमा है आत्मा परमानन्दमय है ज्ञानमय है वह अपना स्वभाव प्रकट करती है वह ज्ञाताके रूप से प्रकट होती है और परमानन्द भोगती है आत्मज्ञान होनेसे सब प्रकारके शेय मालूम हो जाते हैं तत्त्व तत्त्ववेत्ताओंने इसीसे कहा है कि —

"सर्वं पश्यतु मा वा तत्त्वमिष्टतु पश्यतु,,

सब वस्तुओं को जानो या मत जानो परन्तु इष्ट तत्त्व आत्मा को अवश्य जानो इसी बातको मनोहृदय में लिख रक्खो हो इस भांति एक ग्रीसके विद्वान् ने भी कहा है—"Know thyself,, "तुम आत्मज्ञानी हो जाओ,, जैनाचार्योंने भी ऐसा ही कहा है " एक जाणय सो सव्व जाणय, जो एक को आत्मा को यथार्थ रीति से जानता है वह सबको जानता है आत्मामें सब वस्तुका प्रतिबिम्ब पड़ता है " पुरुषार्थ सिद्धुपाय,, नाम ग्रन्थके मंगलाचरणमें लिखा है—

तज्जयति परंज्योतिः सम समस्तै रनन्त-पर्यायैः। दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थ मालिका यत्र ॥ १ ॥

दर्पणके तुल्य जिस में सब पदार्थ मालिका प्रतिबिम्बित होती है वह परम ज्योति सदा जयवंत

हो। जिस ने यथार्थ रीतिसे आत्मा को जाना उसने सब जान लिया क्योंकि आत्मामें सबका प्रतिबिम्ब पड़ता है।

विवेक चूड़ामणि ग्रन्थमें महात्मा शङ्कराचार्यजी ने लिखा है—

शब्दजालं महारण्यं चित्तभ्रमणकारणम्।
अतः प्रयत्नात्ज्ञातव्यं तत्वज्ञातत्वमात्मनः॥

शब्द जाल रूपी महारण्य चित्तको भ्रमाने वाला है इस लिये तत्वज्ञानी के पास यत्नपूर्वक आत्मतत्व जानना चाहिये।

इन वचनों से जान पड़ता है कि हरेक ने प्रत्येक महात्माने आत्मज्ञानका उपदेश किया है वही साध्य बिन्दु है वही उत्कृष्ट पद है वही प्राप्तव्य है वही सब सुखोंकी चरम सीमा है इस लिये आत्मज्ञान प्राप्तकर ना यही उत्तम मार्ग है मुण्डकोपनिषद्में लिखा है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

जब परमात्मतत्व का ज्ञान होता है तब हृदय की गांठ खुल जाती है सब संशय दूर हो जाते हैं और सब कर्मों का नाश हो जाता है अब उस आत्म ज्ञान होने के साधन पर विचार करते हैं आत्मज्ञान का विचार करने के पहले इस बात पर विचार करने की आवश्यकता है कि एकाएक आत्मज्ञान होने का

यत्न नहीं किया जा सकता पहले तो मनुष्य संसारके प्रत्येक पदार्थ का ज्ञान होने का उद्योग करता है विज्ञानवेत्ता की भांति पहले वह प्रकृति को देखता है प्रयोग करता है और भांति २ का ज्ञान इकट्ठा करता है परन्तु संसार में इतना जियादा जानना है कि जो मनुष्य जिन्दगी भर उद्योग करे तो विश्व के अनन्त भाग में से एक भाग का भी ज्ञान नहीं पा सकता वृक्ष के पत्ते के ज्ञान का अभ्यास करने में भी मन थक जाता है और प्रयास रुक जाता है परन्तु जो वृक्ष के मूल का ज्ञान पानेकी कोशिश करे तो जल्द उसका ज्ञान हो जायगा मनुष्य मिट्टी के एवज घड़े का और सोनेकी एवज उसके विविध भूषणोंका अभ्यास आरम्भ कर देता है इस से वह उन का पार नहीं पाता और अन्त में थक जाता है बड़े २ विज्ञानी एक बातका भी पूर्ण ज्ञान नहीं कर सकते तो फिर सब बातोंका जानना तो बहुत दूर है।

तब क्या सर्वज्ञ होना असम्भव है? तब क्या कोई मनुष्य सर्वज्ञानी हो ही नहीं सकता! विज्ञान (Science) की प्रणाली से तो सर्वज्ञ होना असम्भव है क्योंकि प्रकृतिके रूप (Matter) इतने ज्यादा है कि मनुष्य अपनी जिन्दगी में उनका अभ्यास कर

हो नहीं सकता यद्यपि विज्ञान वेत्ताओं (Scientists) के सूक्ष्मदर्शक यन्त्र और दूरबीन आदि अनेक साधन हैं तो भी सम्पूर्ण ज्ञान होना असम्भव है इस से यह मतलब नहीं है कि विज्ञानवेत्ताओंकी जाच पड़ताल व्यर्थ है विज्ञानकी जाच पड़ताल करने में मनुष्य में धैर्य, उद्योग, परीक्षा सत्यशोधकतादि सद्गुण विकसित होते हैं उनका मूल्य नहीं किया जा सकता इन गुणोंकी आत्मज्ञानाभिलाषियों को भी आवश्यकता है परन्तु सर्वज्ञ होनेका एक मार्ग और भी है जो आर्यावर्तमें पहलेसे ही प्रचलित है उसमें बाह्य साधनकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है ज्ञान पाने को न कहीं दूर जाना है और न पुस्तकोंकी आवश्यकता है। मुसाफरी भी करना नहीं है और न इन्द्रियोंकी आवश्यकता है हा, उसके लिये हमें अन्तरात्मा की ओर झुकना पड़ता है वहा ज्ञान सूर्य अपने तेजस्वी रूपसे प्रकाशित हो रहा है और उसके प्रकाशमें सर्व वस्तुएं अपने गुण और पर्याय सहित अपने आप जानी जाती हैं इस सूर्यका प्रतिबिम्ब स्वच्छ और शान्त मन सरोवर पर गिरता है इससे सिद्ध होता है कि आत्मज्ञाना होनेके लिये चित्तकी शान्तता पवित्रता और मन संयमकी आवश्यकता है इन गुणोंमें

लिये हमें कहीं इधर उधर नहीं जाना है क्योंकि जिन को आत्मदर्शन हुआ था ऐसे परोपकारी पुरुष लोक कल्याणके लिये मार्ग बतला गये हैं उस मार्ग का पहला सोपान विवेक है उस विवेकको जैन शास्त्रोंमें सम्यक्त्वके नामसे कहा गया है वस्तुके यथार्थ रूपका नाम 'सम्यक्त्व, है बुद्ध धर्मानुयायी इस बातको 'म नोद्वारा वर्जन कहते हैं अर्थात् जब मनके द्वार खुल जाते हैं तब नित्य और अनित्य वस्तुका भेद अपने आप जाननेमें आ जाता है।

जब यह विवेक गुण ठीक तौर पर विकसित हो जाता है तब नित्य और अनित्य वस्तुका भेद मालूम हो जाता है और अनित्य-क्षणिक वस्तु पर वैराग्य उत्पन्न हो जाता है जैन धर्म कहता है कि, ज्ञान का फल वैराग्य है नित्यात्माकी प्रीति होने पर अनित्य वस्तुओं पर विराग उत्पन्न हो यह स्वाभाविक बात है इसीसे ऐसे मनुष्यको अनित्य वस्तुओं के लाभ से हर्ष नहीं होता और न मिलने से क्लेश भी नहीं होता। वह समझता है कि क्षणिक वस्तु के मिलने से क्या प्रसन्न होना? और शोक किस बातका?

जब ऐसा हो जाता है तो मनुष्य वैराग्य वृत्ति धारण करलेता है। उसे क्षणिक वस्तुओं के लिये राग,

द्वेष में नहीं पड़ने पड़ता, उससे ये राग द्वेष दूर हो जाते हैं । उसका मन पर पूरा अधिकार होता है। उसकी मानसिक शक्ति का कभी भंग नहीं होता वह अच्छी भांति आत्मसंयम कर सकता है, क्योंकि बाह्य वस्तुओं पर उसका मनही नहीं दौड़ता ।

मन संयम से इन्द्रिय संयम होता है इन्द्रियों रूपी घोड़े को रोकने में मन रूप सारथी है । इन्द्रियां मन की गुलाम हैं जिसकी इन्द्रियां वश में हों उसका मन कदाचित् वश न भी हो परन्तु जिसके वशमें मन है उसके वशमें इन्द्रियां अवश्य हैं, इसमें कुछ सन्देह नहीं जो कर्मेन्द्रियों को रोक कर मनसे विषयों का स्मरण करता है उसे श्रीमद्भगवद्गीता में मिथ्याचारी कहा गया है, वह बिलकुल ठीक है क्योंकि जब तक मन विरक्त न हुआ हो तब तक बाह्य विरक्ति से कुछ नहीं होता । विषयों को स्मरण करने वाला मन समय पाकर विषयों में लिप्त हो जाय तो कोई अचरज नहीं है । इस वास्ते मनोनिग्रह करना चाहिये मनोनिग्रह से इन्द्रियनिग्रह तुरन्त हो जाता है ।

मनकी शान्ति रखने वाले पुरुषों को एक सिद्धांत सदा स्मरण रखना चाहिये, जब सुख दुःख आकर पड़े तब उन्हें समभाव से झेलना चाहिये उन सुख दुःखका

निमित्त कारण चाहे कोई भी क्यो न हो परन्तु उस का 'उपादान कारण, तो वह स्वय है हमारी वर्त्तमान स्थिति, हमारे पूर्व जन्मके कार्य विचार और वृत्तियों का परिणाम है। हमारा भविष्य सुधारना और उसे उन्नत बनाना यह हमारी सत्तापर निर्भर है, यह सब होने पर भी पूर्व जन्म के किये हुए काय के परिणाम में जो सुख दु ख हम पर आ पड़ते हैं उन्हें सहनशीलता से सहन करने में ही हमारा भला है। दु ख से जो उपदेश हमें मिले ग्रहण करना चाहिये और मन की शान्ति में मनकी स्वस्थता में कमी न पड़े ऐसा चरित्र रखना चाहिये।

वेदान्तमें इस गुणको ' तितिक्षा , के नामसे कहा है। जिस मनुष्य में यह गुण विकसित होगया है वह मनुष्य भयकर प्रसग में भी अपने मनको स्थिर रख सकता है जिस प्रसगसे औरोंको बड़ी भयचकितता हो

मन की शान्ति कायम रखने के लिये एक और गुण की आवश्यकता है, जिसका नाम ' उपरति ' है है जैन परिभाषा में इसे ' समभाव , कहते हैं। सब मनुष्योंके विचार जुदे २ होते हैं, कारण कि वे अलग सीढियों पर होते हैं, इसी से हम बोध ले सक्ते हैं। सब के विचार एक होना सभव ही नहीं है। कहा है

"मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना,, सब विचार का एक होना सम्भव नहीं है तो हमें विशुद्ध विचार वाले से मिलन होने पर उस के पास जो सीखने योग्य हो सीख लेना चाहिये और अपने पास जो सिखाने लायक हो सिखा देना चाहिये जो उस के पास कोई जानने योग्य अमूल्य तत्व हो तो वह नम्रतापूर्वक–कृतज्ञता पूर्वक जान लेना चाहिये इसीका नाम 'परमत सहिष्णुता' (toleration) कहते है इस गुण वाला सर्व प्रिय हो जाता है जो किसी का विरोधी नहीं है और जिस का कोई विरोधी नही है वह अपने मन को शान्त स्थिर रख सके, इस में अचरज क्या है ? अत एव इस गुणका विकास करनेकी बड़ी आवश्यकता है।

वर्त्तमान समयमें हमारी शक्तिका ३/४ अंश परमतखण्डनमें व्यय होता है इसीकी एवजमें जो उसका व्यय अपने धर्मकी खूबिया बतलानेमें तथा और २ मतकी भी उत्तम २ बातोंके ग्रहण करनेमें हो तो धर्म के नामसे झगडे टंटे होते हैं उन सबका अन्त हो जाय सब धर्म वालेके साथ भ्रातृभाव हो जाय और सर्वत्र साम्यभाव उत्पन्न हो जाय ॥

सद्बोध चित्तरी नामक एक छोटेसे पुस्तकमें प्रभावोत्पादक शब्दोंमें लिखा है श्वेताम्बर हो दिगम्बर

हो, बौद्ध हो या और कोई धर्मानुयायी हो परन्तु जिसकी आत्मामें समभाव है वह अवश्य २ मोक्ष पद पायगा ॥

ऐसा समभाव जिसमें व्याप्त है उसका मन कभी उद्वेग नहीं पाता वह सदा चित्तकी शान्ति रख सक्ता है। चित्तकी शान्तिके लिये आत्मश्रद्धा की भी आवश्यकता है ।

मोहराजा और उसके सुभट कितना ही अपना बल दिखलावें, बाह्य संयोग कितने ही विकट और निरुत्साही बनानेवाले हो, तो भी मनुष्यको आत्म-विश्वास नहीं खोना चाहिए । आत्मा स्वाभाविक रीतिसे आनन्दमय होनेसे हमें सदा आनन्दमें रहना चाहिये । चिन्ताओंसे हमें अपने मनकी शान्तिका भंग न होने देना चाहिये ।

आखीरी गुण मनकी समाधानता है । ऊपर बतलाये हुए सब सद्गुण जब विकसित हो जाते हैं तब मनुष्य मनके समाधानको स्थिर रख सकता है । सुख और दुःखमें वह हर्ष या शोक नहीं करता, क्योंकि सुख दुःख शरीरसे सम्बन्ध रखते हैं और वह शरीरसे सर्वथा पृथक् है । और शरीर द्वारा काम करनेवाली आत्मा है । आत्मा तो साक्षी है, इस लिये शरीर

सम्बन्धवाला सुख और दुःख आनेसे मनोनिग्रहके गुण को न खोना चाहिए। किन्तु मनके साम्य भावको कायम रखना चाहिए। युद्धमें हानि हो या लाभ, किसीकी जीत हो या हार, देखनेवालोंको उससे कुछ हानि लाभ नहीं होता। इसी भांति शरीरद्वारा काम होनेपर भी साक्षी आत्मा सुख दुःखमें, या जय पराजय में निर्लेप रह सकती है।

यह वृत्तिसे ही मनुष्यमें मनोनिग्रह या साम्य भावमें बाधा पहुंचती है। इस लिये फलकी आकांक्षा को छोड़कर काम करते जाना चाहिये। परन्तु काम 'मैं, करता हूं, 'मैं, फल भोगता हूं ऐसा विचारका सर्वथा नाश कर देना चाहिए। ऐसा करनेसे थोड़े ही समय में मनकी समाधानताका गुण विकसित होगा। इस भांति जिसका मन पवित्र और शान्त है और जो मनोनिग्रह अच्छी तरह कर सकता है वह मनुष्य आत्मज्ञानका अधिकारी है।

जिसकी इन्द्रियां अन्तरात्माकी ओर झुक गई हैं, जिसका मन शान्त और स्थिर है उसके आत्म सूर्यका प्रकाश उसके मन पर पड़ता है। आत्मामें जगत्की सब वस्तुओंका प्रतिबिम्ब पड़नेसे आत्मज्ञान होनेपर जन-पथका भी ज्ञान होजाता है, मार्ग खुल जाता है।

उससे कोई वस्तु छानी नहीं रहती और इसीसे ऐसा मनुष्य जगत्‌के हितके लिये अपने कल्याणमय ज्ञानका उपयोग करता है। अपने ज्ञानद्वारा जाने हुए तत्त्वो का वह लोगोको उपदेश करते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि ज्ञान अज्ञानको दूर करनेके लिये है। आत्मा का ज्ञानस्वरूप पूर्ण रूपसे प्रकाशित होता है। ऐसा सद्‌ज्ञान प्राप्त हो, ऐसी उत्तम अवस्थामें हम पहुचे इस के लिये मनको शान्त निर्मल बना कर 'संयम, पालन करनेकी आवश्यकता है और इन गुणोका लाभ होने के लिये ऊपर लिखे हुए गुणोका विकास करते जाना चाहिए। एकदम हम अपने प्रयत्नमें सफल न होगे, परन्तु हमें यही पाना है ऐसा विचार कर जो अपना सब आत्मबल लगा देंगे तो हम अवश्य सफल होगे। सब आत्मायें इस बलको प्राप्त करें ऐसी अंत करणकी प्रार्थना कर इस कुञ्जीके साथ सब कुञ्जियोकी समाप्ति की जाती है।

कृपालु गुरुदेवने जो मेरे ऐसे अल्पज्ञ सेवकको दया कर दी हुई सुवर्णमय सातो कुञ्जियोको यथाशक्ति

और यथाभाति विवेचन किया है। इनका सच्चा रहस्य सो आत्मज्ञानियोंको छोड़कर और कौन समझ सका है। ऐसा होनेपर भी इस पुस्तकमें वर्णन किया हुआ एकाध विचार भी किसीको भी सन्मार्गकी ओर लगा देनेमें समर्थ होगा सो यह लेखक अपने प्रयास और परिश्रमको सफल हुआ समझेगा।

॥ इति ॥

समर्पण

सब भूतोंपर दया करनेवाले, मन वचन और कायाका उत्तमोत्तम उपयोग करने वाले, परोपकारके लिये ही अपने जीवनको समझने वाले (फिर वे किसी देशमें उत्पन्न हुए हो और किसी धर्मके हों,) महा पुरुषोंके कर कमलमें यह पुस्तक सादर समर्पण की जाती है।

अहमदाबाद
दीपोत्सवी
वीर सं० २४३५

वा० मो० शाह
अधिपति, हिन्दी 'जैनहितेच्छु'

पुस्तक मिलनेका पता —

चन्द्रसेन जैनवैद्य, मंत्री

जैनतत्वप्रकाशिनी सभा-

इटावह।

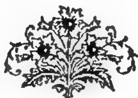
Printed by B. D. S. at the
Brahma-Press
Etawah.



परीक्षामुख



(न्याय शास्त्र)



लेखक व प्रकाशक—

घनश्यामदास, जैन ।

समर्पण ।



यह पुस्तक, बमराना (झाँसी) निवासी उदाराशय, श्रीमान् सेठ लक्ष्मीचन्द्रजी रईसके कर-कमलोंमें-उनके अनेक उपकारोंसे आभारी हो, लेखक द्वारा सादर समर्पित हुई।

विनीत—

लेखक।

भूमिका ।

इस संसार चक्रमें अनेक मत प्रचलित हैं और वे सबही
अपने आपको सत्पथगामी बनाते हैं—मोक्षमार्ग कहते हैं, और
यह भी कहते हैं कि हमारे मार्ग पर चलनेसे ही अभीष्ट फल
लाभ होसकता है। ऐसी अवस्थामें किसी भोले जिज्ञासु को,
सच्चेमार्गको खोज करनेमें बड़ी भारी अड़चनें आ पड़ती हैं
जिससे यह बेचारा आत्मकल्याणसे वञ्चितही रह जाता है
और इस समय संसार चक्रमें चक्कर लगाया करता है। परन्तु
आचार्योंने जो परीक्षाके लिए प्रमाणरूपी कसौटी तैयारकी है
यदि उससे जाँचकर सच्चे पदार्थोंका निर्णय कियाजाय, तो
हम दावेके साथ कह सकते हैं कि कोई भी पुरुष भ्रान्त नहीं
होसकता—झूंठे मार्गमें नहीं फँस सकता, क्योंकि जैसे तराजू
से तुले हुए किसी पदार्थमें सन्देह नहीं रहता है या यों कहिए
कि कसौटी पर घिसकर जांचे हुए सुवर्णमें कोई सन्देह नहीं
रहता है; वैसेही प्रमाण द्वारा निर्णीत पदार्थोंमें भी सन्देह
नहीं रहता है। सो ही उमास्वामी महाराजने कहा है कि — "
प्रमाणनयैरधिगमः । जिन पदार्थोंके श्रद्धान, ज्ञान और आच-
रणको मोक्षमार्ग कहते हैं उन पदार्थोंका निर्णय करना सत्पथ-
गामियोंको अत्यावश्यक है । वे पदार्थ, जीव, अजीव, बंध
और मोक्ष हैं। परन्तु जिन भाइयों को संस्कृतका ज्ञान नहीं है
वे संस्कृतके ग्रन्थोंसे प्रमाणके स्वरूपको नहीं जान सकते हैं
और प्रमाणको बिना जाने मोक्षमार्गके विषयभूत पदार्थोंका
निर्णय भी नहीं कर सकते हैं। इस विचारसे—कि केवल
भाषाको जाननेवाले भी प्रमाणके स्वरूपको सुगमता
समझ सकें और पदार्थोंका निर्णय कर सत्पथगामी बनसकें

प्रेरित होकर, हमने इस परीक्षामुख नामक महान् ग्रन्थके मूलसूत्रोंकी पहले सामान्यभाषा और नीचे विशेष भावार्थ लिखा है जिससे विद्यार्थीगण भी लाभ उठा सकते हैं। इस ग्रन्थमें प्रमाणके स्वरूप, सख्या, विषय और फल, इन चार बातोंका निर्णय किया गया है। इस ग्रन्थमें छै अध्याय हे जिनमेंसे पाच अध्यायोंमें ऊपर कहे हुए चार विषयोंका निरूपण है और अन्तमें छठे अध्यायमें उन सबके आभासोंका वर्णन है। वे अध्याय, प्रमाणस्वरूप, प्रत्यक्ष, परोक्ष विषय फल और आभास, इसप्रकार हे। फिर एक छन्दमें ग्रन्थकारने अपने इस ग्रन्थको दर्पणकी उपमा दिखाई है, यह इसलिए कि इस ग्रन्थसे प्रत्येक मनुष्य पदार्थोंकी हेयता और उपादेयताको उसीतरह जान सकता है, जिस तरह दर्पणसे अपने मुखके सौंदर्य और वैरूप्यको जान लेता है। इस अमूल्य ग्रन्थके कर्ता श्रीमाणिक्यनन्दि नामक आचार्य हे। इनका सविस्तर जीवनचरित्र कहींसे उपलब्ध नहीं हुआ, परन्तु वीर नि संवत् २४३६ के अषाढमासके जैन हितैषीके नवम अकसे यह मालूम हुआ है कि यह आचार्य इस्वी सन् ८०० में विद्यमान थे और इसी समयके लगभग अकलंकदेवादि और और आचार्योंने भी ख्याति लाभ की थी। इन्होंने अकलकदेवके रचे हुए ग्रन्थोंका अनुमनन करके इन थोडेसे सूत्रोंमें न्यायके मूलसिद्धान्तोंका ग्रथन किया है, यह बात अनन्तवीर्य आचार्यकी बनाई हुई प्रमेयरत्नमाला नामकी टीकाके निम्नश्लोकसे विदित होती है।

अकलंकवचोऽम्भोधेरुद्ध्रे येन धीमता।
न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने ॥१॥

यह ग्रन्थ इतना गभीर है कि इसका महात्म्य ही नहीं कहा जासकता है। इस ग्रन्थ पर श्रीप्रभाचन्द्र आचार्यकी

बनाई हुई १२००० श्रीप्रमेयकमलमार्तण्ड नामकी टीका है और श्रीअनन्तवीर्यकी बनाई हुई श्रीप्रमेयरत्नमाला नामकी टीका है।

इस अनुवादके विषयमें हमारा यही नम्र निवेदन है कि इस अनुवादको लिखते समय शब्दार्थ और भावार्थ पर विशेष लक्ष्य दिया गया है और साथ में यह भी प्रयत्न किया गया है क भाषा सरल हो, फिर भी कहीं कहीं कोई कठिन शब्द आ या है उसके लिए पाठकोंको आगे पीछे देख लेना चाहिए। मे नहीं कह सकता हूं कि इसके लिखनेमें मैंने कहा तक सफ लता प्राप्तकी है इसका निर्णय करना पाठकोंके ऊपर ही निर्भर है, यदि वाचकोंने इसे अपनाया और इससे कुछ भी लाभ उठाया तथा मुझे कुछ भी उत्साह दिया, तो मैं फिर भी उनकी सेवा करनेका साहस करूंगा और अपना सौभाग्य समझूंगा।

इस ग्रन्थके लिखनेमें हमारे मित्रोंने हमें बहुत उत्साह देया है इसलिये हम उनका बड़ा भारी आभार मानते हैं और उनकी सेवामें धन्यवाद भेट करते हैं। अन्तमें हम श्रीयुक्त प० उमरावसिंहजी सा० को विशेष धन्यवाद देते हैं, क्योंकि आपने हमारे पूर्ण उत्साहको बढ़ाया है। इत्यलम्।

घनश्यामदास.

वैशाख शुक्ल २
संवत् १९७२
काशी।

☞ पुस्तक मिलने के पते —

(१) घनश्यामदास जैन,
स्याद्वाद महाविद्यालय, काशी।

(२) वंशीधर जैन, मास्टर
बुढ़वार (ललितपुर)

॥ श्री जिनाय नमः ॥

॥ परीक्षामुख भाषा-अर्थ सहित ॥

वा

जैनियों का मूल न्याय सिद्धान्त ।

ग्रन्थकार की प्रतिज्ञा तथा प्रयोजन ।

प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः ।
इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्पं लघीयसः ॥१॥

भावार्थ—प्रमाण (सच्चे ज्ञान) से पदार्थों का निर्णय होता है, और प्रमाणाभास(झूठे ज्ञान) से पदार्थों का निर्णय नहीं होता, इस लिये मन्दबुद्धिवाले बालकों के हितार्थ उन दोनों का लक्षण थोडे शब्दों में, जैसा कि पूर्व महर्षियों ने कहा है, कहता हूँ ।

अब प्रमाण के स्वरूप का निर्णय करते हैं ।

प्रमाण का लक्षण ।

स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ॥१॥

भावार्थ—अपने तथा अपूर्वार्थ के निश्चय करने वाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं ।

परन्तु यह भी एकान्त नहीं है:—

दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—जो पदार्थ पहले किसी प्रमाण से निश्चित हो चुका है, उस में यदि संशय आदि कोई एक भी झूठा ज्ञान होजाय तो वह भी अपूर्वार्थ कहा जायगा, और उसका जाननेवाला ज्ञान भी प्रमाण स्वरूप होगा।

अब स्व-व्यवसाय का समर्थन करते हैं:—

स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—अपने आप के अनुभव से होने वाले प्रतिभास को स्वव्यवसाय अर्थात् स्वरूप का निश्चय कहते हैं।

भावार्थ—जब आत्मा किसी पदार्थ के जानने को व्यापार करती है तब "मैं उसको जानता हूं' ऐसी प्रतीति होती है। बस, उस प्रतीति में "मैं" शब्द करके स्वरूप की ही प्रतीति होती है।

इसी को दृष्टान्त से पुष्ट करते हैं:—

अर्थस्येव तदुन्मुखतया ॥ ७ ॥

भाषार्थ—जिस तरह अर्थ के अनुभव से पदार्थ का प्रतिभास होता है, उसी तरह स्व के अनुभव से स्वव्यवसाय होता है।

भावार्थ—इन सात सूत्रों में केवल इतनाही वर्णन हुआ है कि जो ज्ञान अपने और अन्य पदार्थों के स्वरूप का निश्चय करने वाला होता है, वही सच्चा ज्ञान अर्थात् प्रमाण है, ऐसाही न्यायदीपिका में लिखा है कि-"सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्" अर्थात् सच्चे ज्ञान

(स्व तथा अपूर्वार्थ के निश्चय करने वाले ज्ञान) को प्रमाण कहते हैं, और नहीं निश्चय करने वाले संशय, विपर्यय तथा अनध्यवसाय को अप्रमाण कहते हैं।

किसी पदार्थ के जानने के समय ऐसी प्रतीति होती है:—

घटमहमात्मना वेद्मि ॥ ८ ॥

भाषार्थ—मैं (कर्ता) घट को (कर्म) ज्ञान से (करण) जानता हूँ (क्रिया)

भावार्थ—सर्वत्र ज्ञान के समय चार बातों की प्रतीति होती है, जिनमें मैं करके अपनी प्रतीति होती है इसी को ज्ञान के स्वरूप का निश्चय कहते हैं, क्योंकि यह आत्मा की प्रतीति है, और वह आत्मा ज्ञान स्वरूप है। इस कारण "मैं" करके ज्ञान अपने आप को जानता है। और " घट को " इस करके अपूर्वार्थ की प्रतीति होती है तथा "जानता हूँ" यह क्रिया की प्रतीति है, जिसको प्रमिति, अज्ञान की निवृत्ति, तथा ज्ञप्ति, वा प्रमाण का फल, भी कहते हैं। और " ज्ञान से " इस करके करण रूप प्रमाण की प्रतीति होती है, जिसका फल अज्ञान को दूर करना है।

जो लोग केवल कर्म की प्रतीति मानते हैं, तथा कर्ता कर्म और क्रिया की प्रतीति मानते हैं उनके लिए आचार्य कहते हैं।

कर्मवत्कर्तृकरणक्रियाप्रतीतेः ॥ ९ ॥

भाषार्थ—कर्म की भांति कर्ता, करण तथा क्रिया की भी

प्रतीति होती है, जिसको ऊपर के सूत्र से जान लेना चाहिये।

भावार्थ—सर्वत्र पदार्थों का निर्णय प्रतीति से होता है, अर्थात् जिस पदार्थ की जैसी प्रतीति होती है, उसका वैसा ही स्वरूप माना जाता है। यदि ऐसा नहीं माना जाय, तो कभी पदार्थों का निर्णय ही न होगा। बस, कहने का तात्पर्य यह है, कि जब हम किसी पदार्थ को जानते हैं, तब इस सूत्र में दिखाई गई चार बातों की प्रतीति होती है।

जो लोग इन चार बातो की प्रतीति को केवल शब्दादिक अर्थात् शब्द मात्र से होने वाली मानते है, उनके लिए आचार्य कहते हैं:—

शब्दानुच्चारणेऽपि स्वस्यानुभवनमर्थवत् ॥१०॥

भाषार्थ—शब्द को बिना कहे भी अपनी-प्रतीति, अपने स्वरूप की प्रतीति, होती है, जिस तरह कि घट आदि शब्दों के बिना उच्चारण किये ही घट आदि पदार्थों की प्रतीति होती है।

भावार्थ—"मै" इस प्रकार अपने स्वरूप का बोधक शब्द न बोला जाय तब भी अपने आत्मा की प्रतीति होती है, जिस प्रकार कि घट शब्द को बोले बिना भी घट की। यदि केवल यह प्रतीति शाब्दिक ही होती, तो शब्द के अभाव में कभी न होती, परन्तु होती है। इससे सिद्ध होता है, कि यह प्रतीति शाब्दिक अर्थात् शब्द मात्र से ही होने वाली नहीं है।

उसी को आचार्य, कुछ कौतुक करते हुए पुष्ट करते है:—

को वा तत्प्रतिभासिनमर्थमध्यक्षमिच्छेस्तदेव तथा नेच्छेत् ॥ ११ ॥

भावार्थ—लौकिक अथवा परीक्षक कौन ऐसा पुरुष है जो ज्ञान से प्रतिभासित हुए पदार्थों को तो प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय माने, परन्तु स्वय ज्ञान को प्रत्यक्ष न माने, अर्थात् सर्व ही मानेंगे, कि जब ज्ञान दूसरा का प्रत्यक्ष करता है तो अपना भी करता होगा। यदि अपने को न जानता होता, तो दूसरे पदार्थों को भी न जान सकता, जैसे घट वगैरह अपने को नहीं जानते, इसी लिए दूसरों को भी नहीं जानते हैं।

भावार्थ—जो यह कहेगा, कि मैं घट का प्रत्यक्ष कर रहा हूँ। उसको "मैं" इस शब्द के वाच्य ज्ञान का भी प्रत्यक्ष मानना ही पड़ेगा।

इसी को दृष्टान्त से पुष्ट करते हैं:—

प्रदीपवत् ॥ १२ ॥

भावार्थ—जैसे दीपक घट पट आदि दूसरे पदार्थों को प्रकाशित करता हुआ अपने आप (दीपक) को भी प्रकाशित करता है, वैसे ही ज्ञान, घट पट आदि को जानता हुआ अपने आप (ज्ञान) को भी जानता है।

भावार्थ—यदि दीपक अपने आप को प्रकाशित न करता, तो घट पट के प्रकाशक दीपक के ढूँढ़ने के लिए दूसरे दीपक की आवश्यकता होती, परन्तु होती नहीं है। इस से सिद्ध होता है कि दीपक स्व और पर का प्रकाशक है, इसी प्रकार ज्ञान भी स्व और पर का प्रकाशक है। इसमें कोई सन्देह नहीं है, क्योंकि सर्वत्र दृष्ट पदार्थों से ही अदृष्ट पदार्थों की कल्पना की जाती है।

उस प्रमाण के प्रामाण्य का निर्णय करते हैं:—

तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च ॥ १३ ॥

भाषार्थ—उस प्रमाण (सच्चे ज्ञान) के प्रामाण्य अर्थात् वास्तविकपने (जैसा पदार्थ है उसको वैसाही जानने) का दो प्रकार से निर्णय होता है। अर्थात् अभ्यास दशा में अपने आप (किसी अन्य पदार्थ की सहायताविना) ही निर्णय हो जाता है, और अनभ्यास दशा में अन्य कारणों की सहायता से निर्णय होता है।

भावार्थ—जहां निरन्तर जाया आया करते हैं वहां के नदी तालाब आदि स्थान परिचित होजाते हैं, इसी को अभ्यास दशा कहते हैं। बस, उस जगह स्वतः ही प्रामाण्य का निर्णय (जानपना) होजाता है, और जहाँ कभी गये आये नहीं, वहाँ के नदी तालाब आदि परिचित नहीं होते हैं, इसको अनभ्यास दशा कहते हैं बस, ऐसी हालत में दूसरे कारणों से ही प्रामाण्य का निर्णय होता है।

इसी को दृष्टान्त से पुष्ट करते हैं। कोई पुरुष निरन्तर ही शिवपुर जाया करता है, और वहां के रास्ते में जितने कूप तड़ाग वगैरह आते हैं सब को भली भांति जानता है। फिर वह जब २ जाता है तब २ पूर्व के परिचित चिन्हों को देखते ही जान लेता है कि यहां जल है, और उन्हीं चिन्हों से यह भी जान लेता है, कि मुझे जो ज्ञान हुआ है वह बिल्कुल ही ठीक है। इसमें यही प्रमाण है, कि वह ज्ञान होने के बाद ही शीघ्रता से कुए में वा तालाब में लोटा डोबने लग जाता है। अगर उसे अपने ज्ञान की सचाई नहीं होती तो कभी ऐसा नहीं कर सकता था, इससे मालूम होता है कि अभ्यास दशा में स्वतः ही प्रामाण्य का निर्णय

होता है। और एक दूसरा पुरुष पहले ही शिवपुर गया, और रास्ते में जैसे अन्य जलाशयों पर चिन्ह होते हैं, वैसे चिन्ह देखे। तब उसे यह ज्ञात हुआ कि यहां जल है, परन्तु यह निर्णय नहीं कर सका कि किस ख़ास स्थान पर है अर्थात् दस गज इस तरफ़ है या उस तरफ़। इसके बाद जब वह देखता है, कि अमुकी ओर से स्त्रियाँ पानी लिए आ रही हैं, अथवा कोई सुगन्धि वायु आ रही है। तब वह कहता है कि यह मेरा जल-ज्ञान सच्चा है यदि सच्चा न होता, तो ये स्त्रियाँ जल लेने को भी नहीं आतीं। फिर वह दस गज जाकर कुएँ में लोटा डोब कर पानी भर लेता है। पाठको! उसका पहला ज्ञान यद्यपि सच्चा था, परन्तु उस सचाई का निर्णय दूसरे ही कारणों से हुआ। इससे मालूम होता है कि अनभ्यास दशा में परतः प्रामाण्य का निर्णय होता है।

प्रथम परिच्छेद का सारांश।

सम्पूर्ण ज्ञान स्व तथा पर के जानने वाले होते हैं अर्थात् अपने स्वरूप तथा पर, घट पट आदिक पदार्थों के स्वरूप के निश्चय करने वाले होते हैं। तब ही उनमें सच्चापना आता है अर्थात् इसी कारण से वह प्रमाण कहे जाते हैं, और जिनमें स्व और पर पदार्थों के निश्चय करने की सामर्थ्य नहीं है, वे ज्ञान सच्चे अर्थात् प्रमाण नहीं होते हैं, जैसे संशयज्ञान, विपर्ययज्ञान और अनध्यवसाय। इन का स्वरूप पहले कहा जा चुका है। और इसी कारण से सन्निकर्ष तथा इन्द्रियव्यापार आदिक प्रमाण नहीं हो सकते हैं, क्योंकि वे जड़ हैं अर्थात् चेतना रहित हैं, इस लिए जैसा घट, तसे [illegible]। दोनों में कोई भी फ़र्क नहीं है,

फिर जो सन्निकर्ष वगैरह को प्रमाण मानते हैं, उनको घट भी प्रमाण ही मानना पड़ेगा । परन्तु ऐसा वे मानते नहीं है ; इस लिए सन्निकर्ष को भी घट की तरह अप्रमाण मानना पड़ेगा। दूसरी बात यह है कि सन्निकर्ष वगैरह जड पदार्थों से जीवों के इष्ट की सिद्धि तथा अनिष्ट का परिहार नहीं हो सकता , इस कारण से भी वे प्रमाण नहीं हैं। यह बात निर्विवाद सिद्ध है, कि सब जीव हित की प्राप्ति और अहित के परिहार के लिए ही प्रमाण को खोजते हैं। इससे सिद्ध हुआ, कि ज्ञान ही प्रमाण होता है अन्य नहीं। वह ज्ञान जिस पदार्थ को जानता है वह ऐसा होना चाहिए जिसको कि पहले किसी सच्चे ज्ञान ने नहीं जाना हो, और अगर जाना भी हो, तो उसके बाद किसी झूठ ज्ञान ने फिर भ्रम कर दिया हो, उस पदार्थ का नाम है अपूर्वार्थ, और उसके जानने वाले ज्ञान का नाम होता है सच्चा ज्ञान, अथवा प्रमाण। उस ज्ञान में अपूर्वार्थ जानने के समय केवल अपूर्वार्थ का ही प्रतिभास नहीं होता, किन्तु अपने आप का भी होता है, इस लिए ही वास्तविक में वह सच्चा है कि अपने को जानता है, और पर को भी जानता है, क्योंकि जो अपने आपही अन्धा है वह दूसरे पुरुष को रास्ता नहीं बतला सकता है, और यदि बतलावेगा तो उल्टा मार्गही बतलावेगा, जिससे बेचारा पथिक मारा मारा फिरेगा। ठीक इसी प्रकार जो ज्ञान अपने आपको नहीं जानता, वह दूसरे पदार्थ को निश्चित नहीं जान सकता है, और यदि जानेगा तो संशय आदि की तरह उल्टा ही जानेगा, जिस से ज्ञाता को लाभ के बदले हानि उठानी पड़ेगी । इस बात को दीपक, रत्न, सूर्य, चन्द्रमा वगैरह दृष्टान्त भली भाति पुष्ट कर रहे हैं , कि जो दूसरे का प्रकाशन करता है, वह अपना प्रकाशन तो करताही है, इस में हस्तक्षेप

करने की जरूरतही नहीं, कि वह अपने आप को नहीं जानता है।

कहने का तात्पर्य यह है, कि सब प्रमाण स्व तथा पर पदार्थों के स्वरूप के निश्चय करने वाले होते हैं। और इनका वास्तविकपना कहीं (अभ्यास दशा में) स्वत ही निर्णीत होजाता है और कहीं (अनभ्यास दशा में) परत निर्णीत होता है।

इस प्रकार प्रमाण के स्वरूप का संक्षेप वर्णन किया।

इति प्रथमः परिच्छेदः।

अब प्रमाण की सख्या का निर्णय करते हुए प्रत्यक्ष प्रमाण का निर्णय करते है:—

तद्द्वेधा ॥ १ ॥

भावार्थ—उस प्रमाण के अर्थात् ऊपर के परिच्छेद से निर्णीत प्रमाण के, दो भेद हैं। जैसे —

प्रत्यक्षेतरभेदात् ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रत्यक्ष, और इतर—परोक्ष।

प्रत्यक्षप्रमाण का लक्षण।

विशदं प्रत्यक्षम् ॥ ३ ॥

भावार्थ—निर्मल (स्पष्ट) ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते है।

भावार्थ—प्रत्यक्ष प्रमाण की निर्मलता अनुभव से जानी जाती है। वह अनुभव इस प्रकार होता है। किसी पुरुष को उसके पिता ने अथवा किसी अन्य मनुष्य ने अग्नि का ज्ञान शब्दों से करवा दिया, तब उस पुरुष ने सामान्य रूप से अग्नि

को जाना। और उसके पश्चात् किसी मनुष्य ने धूम से अग्नि का ज्ञान करवाया, तब भी उस पुरुष ने जिस जगह पर धूम था उस जगह विशिष्ट वन्हि को जाना। इसके बाद किसी तीसरे मनुष्य ने अग्नि का जलता हुआ अंगार लाकर उसके सामने रख दिया, तब उस पुरुष को बिलकुल निर्मल (स्पष्ट) ज्ञान हो गया, कि इस प्रकार, ऐसे रंग की, गर्म अग्नि होती है। बस, इस प्रत्यक्ष में पहले हुए दो ज्ञानों में जो विशेषता है उसी को निर्मलता कहते हैं, और जो ज्ञान निर्मल होता है उसी को प्रत्यक्ष कहते हैं।

इसी वैशद्य को आचार्य ने कहा है:—

प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—दूसरे ज्ञान की सहायता के बिना होने वाले, तथा पदार्थों के आकार, वर्ण आदि की विशेषता से होने वाले, प्रतिभास को वैशद्य (विशदता) कहते हैं।

भावार्थ—जो ज्ञान अपने स्वरूप के लाभ करने में दूसरे ज्ञानों की सहायता चाहते हैं, वे ज्ञान 'परोक्ष' कहे जाते हैं, जैसे स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, तथा आगम'। और जो दूसरे ज्ञानों की सहायता नहीं चाहते हैं, वे प्रत्यक्ष कहे जाते हैं, और उनमें जो खासियत होती है उस को विशदता—वैशद्य, निर्मलता या स्पष्टता कहते हैं।

उस प्रत्यक्ष के दो भेद हैं। एक सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, दूसरा पारमार्थिक प्रत्यक्ष (मुख्यप्रत्यक्ष)।

साव्यवहारिक प्रत्यक्ष के कारण और उसका लक्षण।

न्द्रियानिन्द्रियनिमित्त देशतः सांव्यवहारिकम्॥५॥

भाषार्थ—इंद्रियों की और मन की सहायता से होने वाले, एक देश विषद (निर्मल) ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

भावार्थ—यह प्रत्यक्ष मतिज्ञान का ही भेद है जिसका
कि उमास्वामी महाराज ने "मति स्मृति सज्ञा चिंता ऽभिनि
बोध इत्यनर्थान्तरम्' इस सूत्र में पड़े हुए मति शब्द से उल्लेख
किया है, इसके द्वारा प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप व्यवहार चलता
है, इस लिए इसको साव्यवहारिक विशेषण दिया है। और थोड़ी
निर्मलता लिए होता है, इस लिए इसको प्रत्यक्ष कहा है वस्तुत
यह परोक्ष ही है। क्योंकि, "आद्ये परोक्षम्' यह सूत्र कहता है
कि मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं।

जो लोग इन्द्रिय तथा अनिन्द्रिय की नाईं अर्थ और आलोक (प्रकाश) को भी ज्ञान का कारण मानते हैं, आचार्य उनका निषेध करते हैं:—

नार्थालोकौ कारण परिच्छेद्यत्वात्तमोवत् ॥६॥

भाषार्थ—पदार्थ और प्रकाश, ज्ञान के कारण नहीं है। क्योंकि वे ज्ञान के विषय हैं। जो २ ज्ञान का विषय होता है वह २ ज्ञान का कारण नहीं होता है। जैसे अन्धकार। यह ज्ञान का विषय तो होता है, क्योंकि सर्व ही कहते हैं कि यहा अन्धका

है, परन्तु ज्ञान का कारण नहीं, उल्टा ज्ञान का प्रतिबन्धक है अर्थात् अन्धकार की वजह से घट पट का ज्ञान नहीं हो सकता, रुक जाता है।

भावार्थ—यदि पदार्थों को ज्ञान का कारण मानें, तो मौजूद पदार्थों का ही ज्ञान होगा। जो उत्पन्न नहीं हुए हैं अथवा नष्ट हो गए हैं, उनका ज्ञान नहीं होगा, क्योंकि जो है ही नहीं, वह कारण कैसे हो सकता है। और जो आलोक को कारण मानते हैं उन्हें रात्रि में कुछ भी ज्ञान नहीं होगा। यह भी नहीं कह सकेंगे, कि यहां अन्धकार है।

उसी को दूसरी युक्तियों से सिद्ध करते हैः—

तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावाच्च केशोण्डुकज्ञानवन्नक्तंचरज्ञानवच्च ॥ ७ ॥

भापार्थ—अर्थ और आलोक (प्रकाश) ज्ञान के कारण नहीं हैं, क्योंकि ज्ञान का अर्थ, तथा प्रकाश के साथ अन्वय और व्यतिरेक नहीं है। जैसे केश में होनेवाले उण्डुक के ज्ञान के साथ, तथा रात्रि में होने वाले नक्तंचर उल्लू आदि के ज्ञान के साथ।

भावार्थ—अर्थ ज्ञान का कारण नहीं है, क्योंकि ज्ञान का अर्थ के साथ अन्वय तथा व्यतिरेक नहीं है जैसे केश में होने वाले उण्डुक के ज्ञान के साथ। साराश यह है कि केश के होते हुए केश का ज्ञान होता, तो कह सकते थे कि अर्थ ज्ञान का कारण है, परन्तु ऐसा न होकर उल्टाही होता है, कि जो पदार्थ (उण्डुक अर्थात् मच्छर) है ही नहीं, उसका तो ज्ञान होता है और जो हैं (केश है) उसका ज्ञान नहीं होता है। इसी को अन्वय व्यतिरेक का

अभाव कहते है। क्योंकि कारण के होने पर कार्य के होने को अन्वय, तथा कारण के अभाव मे कार्य के अभाव को व्यतिरेक कहते हैं। इस रीति के अनुसार केश होने पर केश का ज्ञान होना चाहिए था और उण्डुक के अभाव में उस के ज्ञान का अभाव होना चाहिए था सो नहीं होता, किंतु इसका उल्टा ही होता है। जिससे सिद्ध होता है कि अर्थ के साथ ज्ञान के अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही नहीं हैं। इसलिए अर्थ ज्ञान का कारण नहीं है। इसी प्रकार आलोक भी ज्ञान का कारण नहीं है, क्योंकि ज्ञान का आलोक (प्रकाश) के साथ अन्वय व्यतिरेक नहीं है, जैसे नक्तँचर, उल्लू आदि के ज्ञान के साथ। साराश यह है कि आलोक के होने पर उल्लू पक्षी को ज्ञान नहीं होता है और आलोक के नहीं होने पर भी रात्रि में ज्ञान होना है, इनसे सिद्ध होता ह कि आलोक ज्ञान का कारण नहीं है, अगर कारण होता, तो रात्रि में उल्लू को ज्ञान कभी न होता।

बौद्ध लोग मानते हैं, कि जो ज्ञान जिस पदार्थ से उत्पन्न होता है, वह ज्ञान उसी पदार्थ को जानता है, उससे विपरीतही आचार्य कहते हैं:—

अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशकं प्रदीपवत् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—ज्ञान यद्यपि पदार्थोंसे उत्पन्न नहीं होता है, तो भी पदार्थों का प्रकाशक अर्थात् जानने वाला होता है। जैसे दीपक घट पट आदिकसे उत्पन्न नहीं होता है तो भी घट पट आदि को प्रकाशित कर देता है।

भावार्थ—इसी प्रकार घट के आकार नहीं होकर

ज्ञान घट को जानता है, जैसे दीपक घट के आकार को नहीं धारण करके भी घट को प्रकाशित कर देता है।

जब कि ज्ञान किसी पदार्थ से नहीं उत्पन्न होकर भी पदार्थों को जानता है, तो एक ही ज्ञान सब पदार्थों को क्यों न जान ले, इसका निषेध करने वाला कौन है ? हमारे (बौद्धों के) यहां तो जो ज्ञान जिस पदार्थ से उत्पन्न होगा, वह ज्ञान उसी पदार्थ को जानेगा, अन्य पदार्थों को नहीं, इस नियम से काम चल जाता है। इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं—

स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति (प्रत्यक्षमिति शेषः) ॥ ९ ॥

भाषार्थ—अपने आवरण कर्म के क्षयोपशम रूपी योग्यता से प्रत्यक्षप्रमाण, यह घट है, यह पट है, इस प्रकार पदार्थों की जुदी २ व्यवस्था कर देता है अर्थात् क्रम २ से जैसी २ योग्यता होती जाती है वैसे ही पदार्थों को जुदा २ करके विषय करता है।

भावार्थ—ज्ञान पर बहुत से आवरण कर्म चढ़े हुए हैं, फिर घटके ज्ञान को रोकने वाला, अथवा पट के ज्ञान को रोकने वाला, जौन सा आवरण कर्म हट जायगा उसी पदार्थ को ज्ञान विषय कर लेगा, दूसरे पदार्थों को नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि स्वावरण क्षयोपशम से ज्ञान पदार्थों को जुदी २ क्रम से व्यवस्था करदेता है। फिर पदार्थों से ज्ञान उत्पन्न होता है यह मानने की कोई भी जरूरत नहीं। दूसरी बात यह है, कि नष्ट पदार्थों की व्यवस्थाकैसे होगी ?

ओर यह भी है कि:—

कारणस्य च परिच्छेद्यत्वे करणादिना व्यभिचारः॥१०॥

भाषार्थ—जो पदार्थ ज्ञान का कारण होता है वह ही ज्ञान का विषय होता है। यदि ऐसा माना जायेगा, तो इन्द्रियों के साथ व्यभिचार नाम का दोष हो जायगा, क्योंकि इन्द्रियाँ ज्ञान की कारण तो हैं परन्तु विषय नहीं हैं।

भावार्थ—बौद्धों का कहना है कि जो २ ज्ञान का कारण होता है वह २ ही ज्ञान का विषय होता है। इस अनुमान में "कारण होना" हेतु है और 'विषय होना" साध्य है। अब देखिए, कि इन्द्रियों में हेतु तो रह गया, क्योंकि वे ज्ञान में कारण हैं, परन्तु साध्य "विषय होना" नहीं रहा, क्योंकि ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो अपनी इन्द्रियों से अपनी ही इन्द्रियों को जान लेवे। बस, हेतु रहकर साध्य के न रहने को ही व्यभिचार दोष कहते हैं, इस लिए ही ऊपर कहा है कि इन्द्रियों के साथ व्यभिचार नाम का दोष आवेगा।

पारमार्थिक (मुख्य) प्रत्यक्ष का स्वरूप।

सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमतीन्द्रिय-मशेषतोमुख्यम् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल, तथा भाव रूप सामग्री की परिपूर्णता से दूर कर दिये हैं सर्व आवरण जिसने ऐसे तथा इन्द्रि[यों] की सहायता रहित और पूर्णतया विशद, ज्ञान को मुख्य प्रत[्यक्ष] कहते हैं।

ज्ञान घट को जानता है, जैसे दीपक घट के आकार को नहीं धारण करके भी घट को प्रकाशित कर देता है।

जब कि ज्ञान किसी पदार्थ से नहीं उत्पन्न होकर भी पदार्थों को जानता है, तो एक ही ज्ञान सब पदार्थों को क्यों न जान ले, इसका निषेध करने वाला कौन है? हमारे (बौद्धों के) यहाँ तो जो ज्ञान जिस पदार्थ से उत्पन्न होगा, वह ज्ञान उसी पदार्थ को जानेगा, अन्य पदार्थों को नहीं, इस नियम से काम चल जाता है। इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं —

स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रति नियतमर्थं व्यवस्थापयति (प्रत्यक्षमिति शेषः) ॥ ९ ॥

भाषार्थ—अपने आवरण कर्म के क्षयोपशम रूपी योग्यता से प्रत्यक्षप्रमाण, यह घट है, यह पट है, इस प्रकार पदार्थों का जुदी २ व्यवस्था कर देता है अर्थात् क्रम २ से जैसी २ योग्यता होती जाती है वैसे ही पदार्थों को जुदा २ करके विषय करता है।

भावार्थ—ज्ञान पर बहुत से आवरण कर्म चढ़े हुए हैं, फिर घटके ज्ञान को रोकने वाला, अथवा पट के ज्ञान को रोकने वाला, जौन सा आवरण कर्म हट जायगा उसी पदार्थ को ज्ञान विषय कर लेगा, दूसरे पदार्थों का नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि स्वावरण क्षयोपशम से ज्ञान पदार्थों को जुदी २ क्रम से व्यवस्था करदेता है। फिर पदार्थों से ज्ञान उत्पन्न होता है यह मानने की कोई भी जरूरत नहीं। दूसरी बात यह है, कि नष्ट पदार्थों की व्यवस्थाकैसे होगी?

प्रत्यक्ष, स्मरण तथा प्रत्यभिज्ञान की आवश्यकता होती है वह ऐसे होती है, एक पण्डितजी अपने शिष्य को साथ लेकर भ्रमणार्थ गए, वहां एक पहाड़ में धूम दीख पड़ा। तब पण्डितजी शिष्य से कहते हैं, कि देखो भाई तुम्हें याद है जो तुम अपने रसोई घर में रोज देखते हो कि जब धूम होता है तब अवश्यही अग्नि होती है, यह सुनकर वह अपने रसोई घर वाले धूम और अग्नि का स्मरण करता है। और फिर कहता है क्यों पण्डित जी! यह धूम उसी के सदृश है न? तब पण्डित जी कहते हैं कि हाँ। अब देखिए, यहां पर उस शिष्य को पहले धूम का प्रत्यक्ष हुआ, पीछे स्मरण हुआ, और फिर सादृश्य प्रत्यभिज्ञान हुआ, इसके बाद वह निश्चय करके कहता है कि जब ऐसा है, तो जहां २ धूम होगा वहां २ अवश्य ही अग्नि होगी, क्योंकि अग्नि के बिना धूम हो ही नहीं सकता है। बस, इसी को व्याप्तिज्ञान तथा तर्कप्रमाण कहते हैं, और इसमें उपर्युक्त तीन ज्ञानों की आवश्यकता होती है। इस तर्क प्रमाण के बाद वह शिष्य अनुमान करता है कि इस पर्वत में अग्नि है, क्योंकि यहां पर धूम है। बस, इस में तर्क सहित चार प्रमाण निमित्त होते हैं। आगम प्रमाण में, संकेत ग्रहण अर्थात् यह शब्द इस पदार्थ को कहता है इस प्रकार के संकेत का ग्रहण, और उसका स्मरण, यह दोनों ही कारण होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार इन पांचों ही प्रमाणों में दूसरे प्रमाणों की आवश्यकता होती है, इसी लिए ही इनको परोक्ष प्रमाण कहते हैं।

प्रत्यक्ष हो सकता है, जिसका कोई प्रतिबन्धक न हो। इस प्रकार प्रत्यक्षप्रमाण का वर्णन किया।

इति द्वितीय परिच्छेद।

अब परोक्ष प्रमाण का निर्णय करते हैं:—

परोक्षमितरत् ॥ १ ॥

भावार्थ—"विशद प्रत्यक्षम्" इस सूत्र कर कहे हुए प्रत्यक्ष प्रमाण के सिवाय सर्व प्रमाण (स्मृति आदि) परोक्ष हैं।

परोक्ष प्रमाण के कारण और भेद।

प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदम् ॥ २ ॥

भावार्थ—परोक्ष प्रमाण के प्रत्यक्ष, स्मृति आदिक कारण हैं और स्मृति, प्रत्यभिज्ञान तर्क, अनुमान तथा आगम भेद हैं। तात्पर्य यह है कि परोक्ष प्रमाण के पांच भेद हैं। और वे परस्पर में कारण हैं तथा प्रत्यक्ष भी उनका कारण है।

भावार्थ—स्मरण, पहले अनुभव किए हुए पदार्थ का ही होता है जब कि वह अनुभव (प्रत्यक्ष) धारणा रूप हो। इस लिए स्मरण का प्रत्यक्ष निमित्त है। इसी प्रकार प्रत्यभिज्ञान में स्मरण और प्रत्यक्ष की जरूरत पड़ती है क्योंकि जिस पदार्थ को पहले देखा था, उसी को फिर देख कर "यह वही है जिसको मैंने पहले देखा था" ऐसा जो ज्ञान होता है उसको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं, इसमें स्मरण की और पुनर्दर्शन अर्थात् दूसरी दफे वाले प्रत्यक्ष की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार तर्क प्रमाण में तीनों की आ-

प्रत्यक्ष, स्मरण तथा प्रत्यभिज्ञान की आवश्यकता होती है वह ऐसे होती है, एक पण्डितजी अपने शिष्य को साथ लेकर भ्रमणार्थ गए, वहा एक पहाड में धूम दीख पडा। तब पण्डितजी शिष्य से कहते हैं, कि देखो, भाई तुम्हें याद है जो तुम अपने रसोई घर में रोज देखते हो, कि जब धूम होता है तब अवश्यही अग्नि होती है, यह सुनकर वह अपने रसोई घर वाले धूम और अग्नि का स्मरण करता है। और फिर कहता है क्यों पण्डित जी! यह धूम उसी के सदृश है न? तब पण्डित जी कहते है कि हाँ। अब, देखिए, यहा पर उस शिष्य को पहले धूम का प्रत्यक्ष हुआ, पीछे स्मरण हुआ, और फिर सादृश्य प्रत्यभिज्ञान हुआ, इसके बाद वह निश्चय करके कहता है कि जब ऐसा है, तो जहा २ धूम होगा वहा २ अवश्य ही वन्हि होगी क्योंकि वन्हि के बिना धूम हो ही नहीं सकता है। बस, इसी को व्याप्तिज्ञान तथा तर्कप्रमाण कहते हैं, और इसमें उपर्युक्त तीन ज्ञानों की आवश्यकता होती है। इस तर्क प्रमाण के बाद वह शिष्य अनुमान करता है कि इस पर्वत में अग्नि है, क्योंकि यहा पर धूम है। बस, इस में तर्क सहित चार प्रमाण निमित्त होते हैं। आगम प्रमाण मे, सकेत ग्रहण अर्थात् यह शब्द इस पदार्थ को कहता है इस प्रकार के सकेत का ग्रहण, और उसका स्मरण यह दोनों ही कारण होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार इन पाँचों ही प्रमाणों में दूसरे प्रमाणों की आवश्यकता होती है, इसी लिए ही इनको परोक्ष प्रमाण कहते हैं।

स्मृति प्रमाण का लक्षण व कारण।

भाषार्थ—संस्कार (धारणाख्य अनुभव) की प्रकटता से होने वाले, तथा 'तत्' (वह) इस आकार वाले, ज्ञान को स्मृति कहते हैं ।

उसी को दृष्टान्त से दृढ करते हैं:—

स देवदत्तो यथा ॥ ४ ॥

भाषार्थ—जैसे कि वह देवदत्त ।

भावार्थ—देवदत्त को पहले देखा और धारणा भी करली, उसके बाद फिर कभी उस धारणा के प्रकट होने पर ज्ञान होता है कि वह देवदत्त । बस, इसी को स्मरण कहते हैं ।

प्रत्यभिज्ञान का स्वरूप व कारण ।

दर्शनस्मरणकारणक संकलनं प्रत्यभिज्ञानम् । तदेवेद तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि॥५॥

भाषार्थ—जो प्रत्यक्ष और स्मरणज्ञान से उत्पन्न होता है और जो एकत्व, सादृश्य तथा वैलक्षण्य आदि विवक्षित धर्मों से युक्त वस्तु को ग्रहण करता है, उस ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं, और जब जिस धर्म को ग्रहण करता है तब उसका नाम भी वैसा ही पड जाता है, जैसे, यह वही है (एकत्वप्रत्यभिज्ञान) यह उसके सदृश है (सादृश्य प्रत्यभिज्ञान) यह उससे विलक्षण है (वैलक्षण्य प्रत्यभिज्ञान) यह उसका प्रतियोगी है (प्रातियोगिक प्रत्यभिज्ञान)

भावार्थ—यह प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष और स्मरणज्ञान की से उत्पन्न होता है, और फिर जिस वस्तु को पहले

ग्रहण किया था, उसी वस्तु को एकत्व, सादृश्य तथा वैलक्षण्य आदि धर्मों में से किसी विवक्षित एक धर्म से विशिष्ट ग्रहण करता है। इसी कारण जब जिस धर्म से विशिष्ट वस्तु को ग्रहण करता है तब उसका नाम भी वैसा ही हो जाता है। जैसे कि ऊपर लिखे हैं।

अब उन्हीं प्रत्यभिज्ञानों के दृष्टान्त दिखाते हैं:—

यथा स एवायं देवदत्तः ॥६॥ गो सदृशो गवयः ॥७॥ गो विलक्षणो महिषः ॥८॥ इदमस्माद्दूरम् ॥९॥ वृक्षोऽयमित्यादि ॥ १० ॥

भाषार्थ—जैसे कि यह वही देवदत्त है, यह रोझ उस गौ के समान है, यह भैसा उस गौ से विलक्षण (भिन्न) ही है, यह प्रदेश उस प्रदेश से दूर है, जो हमने पूर्व सुना था वह यही वृक्ष है, इत्यादि और भी प्रत्यभिज्ञान अपनी बुद्धि से जान लेना चाहिए।

भावार्थ—ऊपर के दृष्टान्त, क्रम से एकत्व, सादृश्य, वैलक्षण्य तथा प्रातियोगिक प्रत्यभिज्ञान के जानना चाहिए।

तर्कप्रमाण के कारण व स्वरूप।

उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः ॥ ११ ॥

भाषार्थ—ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के अनुसार, साध्य और साधन के, एकबार अथवा बार २ किए हुए दृढ निश्चय और अनिश्चय से होने वाले, व्याप्ति (जहां २ धूम होता है वहां २

अग्नि होती है और जहा वह्नि नहीं होती, वहां धूम भी नहीं होता है) के ज्ञान को तर्क कहते है-ऊह कहते हैं।

भावार्थ—साध्य और साधन के एकवार अथवा वार २ किए हुए दृढ निश्चय और अनिश्चय मे होने वाले, व्याप्ति-ज्ञान को ऊह कहते हैं, परन्तु वह वार २ का दृढ निश्चय तथा अनिश्चय क्षयोपशम के अनुकूल होगा, इसमें सन्देह नहीं है।

वह व्याप्तिज्ञान इस तरह से प्रवृत्त होता है:—

इदमस्मिन् सत्येव भवत्यसति तु न भवत्येव ॥१२॥
यथाऽग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च ॥१३॥

भाषार्थ—यह साधन रूप वस्तु इस साध्यरूप वस्तु के होने पर ही होती है और साध्यरूप वस्तु के नहीं होने पर नहीं होती है। जिस प्रकार कि अग्नि के होने पर ही धूम होता है और अग्नि के अभाव में नहीं होता है।

अनुमान का कारण व स्वरूप।

साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम् ॥१४॥

भाषार्थ—निश्चित साधन से होने वाले, साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते है।

भावार्थ—जिस हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव निश्चित है, उस हेतु से होने वाले साध्य के ज्ञान की अनुमान संज्ञा है।

हेतु (साधन) का लक्षण।

साध्याविनाभावित्वेन निश्चतो हेतुः ॥१५॥

भाषार्थ—जिस का साध्य के साथ अविनाभाव निश्चित हो अर्थात् जो साध्य के बिना नहीं हो सकता हो, उसको हेतु कहते हैं।

अविनाभाव का लक्षण।

सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः ॥ १६ ॥

भाषार्थ—सहभाव नियम तथा क्रमभाव नियम को अविनाभाव सम्बन्ध कहते हैं।

भावार्थ—जो पदार्थ एक साथ रहते हैं उनमें सहभाव नियम नाम का सम्बन्ध होता है, और जो क्रम से होते हैं उन में क्रमभाव नियम नाम का सम्बन्ध होता है। ये दोनों सम्बन्ध नीचे के दो सूत्रों से स्पष्ट हो जावेंगे।

सहभाव नियम का प्रदर्शन।

सहचारिणोः व्याप्यव्यापकयोश्च सहभावः ॥१७॥

भाषार्थ—साथ रहने वालों में, तथा व्याप्य और व्यापक पदार्थों में सहभाव नियम नाम का अविनाभाव सम्बन्ध होता है।

भावार्थ—रूप और रस एक साथ रहने वाले हैं, और वृक्ष व्यापक व शिंशपा (शीशम) उसका व्याप्य है, इस कारण इन्हीं में सहभाव नियम नामका अविनाभाव माना जाता है।

क्रमभाव नियम का खुलासा।

पूर्वोत्तरचारिणोः कार्यकारणयोश्च क्रमभावः॥१८॥

भाषार्थ—पूर्वचर उत्तरचरों में तथा कार्य कारणों में क्रमभाव नियम होता है।

भावार्थ—कृतिका का उदय अन्तर्मुहूर्त पहले होता है और रोहणी का उदय पीछे होता है, इस लिए इन दोनों में क्रमभाव माना जाता है, इसी प्रकार अग्नि और धूम में भी क्रम भाव माना जाता है, क्योंकि अग्नि के बाद में धूम होता है। इसको अनन्तरभाव नियम भी कहते हैं।

इस व्याप्ति (अविनाभाव) का ज्ञान-निर्णय, तर्कप्रमाण से होता है। सोही आचार्य कहते हैं:—

तर्कात्तन्निर्णयः ॥ १९ ॥

भाषार्थ—तर्कप्रमाण—ऊहप्रमाण, से व्याप्ति अर्थात् अविनाभाव का निर्णय होता है।

भावार्थ—जहा २ साधन होता है वहा २ साध्य रहता है और जहा साध्य नहीं होता, वहा साधन भी नहीं रहता है। इस प्रकार के अविनाभाव का निश्चय अर्थात् सच्चा ज्ञान, तर्कप्रमाण अर्थात् ऊह प्रमाण से होता है अन्य किसी प्रमाण से नहीं। विशेष बात यह है कि जैनियों के सिवाय और किसी भी मतावलम्बी ने तर्कप्रमाण को नहीं माना है, इस लिए सब की मानी हुई प्रमाण सख्या झूठी ठहरती है अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम उपमान, अर्थापत्ति, तथा अभाव किसी प्रमाण से भी व्याप्ति का निर्णय नहीं हो सकता है, इस लिए सब को ही तर्कप्रमाण मानना पडता है, तब प्रमाण सख्या जोकि स्वय मानी थी कहाँ रहेगी। प्रत्यक्षादि प्रमाण व्याप्ति का निर्णय नहीं कर सकते हैं इस बात को बडे २ न्याय के ग्रन्थों से जानना चाहिए।

साध्य का स्वरूप।

इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम् ॥ २० ॥

भाषार्थ—जो वादी को इष्ट अर्थात् अभिप्रेत हो तथा प्रत्यक्ष आदिक प्रमाणों से बाधित न हो, और सिद्ध न हो, उसको साध्य कहते हैं।

भावार्थ—जिसको वादी सिद्ध करना चाहता है तथा जिसमें प्रत्यक्ष वगैरह प्रमाण से बाधा न आती हो, और जो सिद्ध न हो, क्योंकि सिद्ध को साधने से कोई फल नहीं होता है, उसको साध्य कहते हैं।

अब ऊपर के कहे हुए 'असिद्ध' विशेषण का फल दिखाते हैं:—

संदिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां साध्यत्वं यथा स्यादित्यसिद्धपदम् ॥ २१ ॥

भाषार्थ—साध्य को असिद्ध विशेषण इस लिए दिया है, कि जिसमें संदिग्ध, विपर्यस्त तथा अव्युत्पन्न पदार्थ भी साध्य हो सकें।

भावार्थ—संदिग्ध अर्थात् संशय ज्ञान का विषय पदार्थ, तथा विपर्यस्त अर्थात् विपरीत ज्ञान का विषय पदार्थ, और अव्युत्पन्न अर्थात् अनध्यवसाय ज्ञान का विषय पदार्थ, इन सभों को साध्य बना सकें, इस लिए साध्य, असिद्ध होना चाहिए अथ जो असिद्ध होता है उसको साध्य कहते हैं—यह कहा है,।

अब इष्ट तथा अबाधित विशेषणों का फल दिखाते हैं :—

अनिष्टाध्यक्षादिबाधितयोः साध्यत्व मा भूदितीष्टाबाधितवचनम् ॥ २२ ॥

भाषार्थ—अनिष्ट तथा प्रत्यक्ष आदिक प्रमाणों से बाधित पदार्थों को साध्यपने का निषेध करने के लिए साध्य को इष्ट तथा अबाधितविशेषण दिए हैं।

भावार्थ—मीमांसक को अनित्य शब्द इष्ट नहीं है, इस लिए वह कभी भी शब्द में अनित्यपना सिद्ध नहीं कर सकता है, बस, इसी के निषेध करने को कहा है कि साध्य नहीं होगा जो वादी को इष्ट होगा, इसी प्रकार जो प्रमाण से बाधित होगा वह भी साध्य नहीं हो सकता है। यह बाधित, प्रत्यक्ष से, अनुमान से, आगम से, तथा लोक से, और स्ववचन से इत्यादि बहुत प्रकार का होता है इसका निरूपण पक्षाभास में आगे किया है।

साध्य का इष्ट विशेषण वादी की अपेक्षा से है :—

नचासिद्धवदिष्टं प्रतिवादिनः ॥ २३ ॥

भाषार्थ—जिस तरह असिद्ध विशेषण प्रतिवादी की अपेक्षा से है उस तरह इष्ट विशेषण नहीं किन्तु वह इष्ट विशेषण वादी की अपेक्षा से है।

उसीको पुष्ट करते हैं :—

प्रत्यायनाय हीच्छा वक्तुरेव ॥ २४ ॥

भाषार्थ—दूसरे को समझाने की इच्छा वादी (वक्ता) की

ही होती है प्रतिवादी को नहीं, किन्तु प्रतिवादी को उस के खण्डन की इच्छा होना है।

भावार्थ—इष्ट विशेषण वादी की ही अपेक्षा से है। जो पहले मे पक्ष को बोलता है उसको वादी कहते हैं, और पीछे से पक्ष का निराकरण करने वाले को प्रतिवादी कहते हैं।

वह साध्य कहीं धर्म होता है तथा कहीं धर्म से युक्त धर्मी (पक्ष) होता है :—

साध्यं धर्मः क्वचित्तद्विशिष्टो वा धर्मी ॥ २५ ॥

भाषार्थ—कहीं (व्याप्ति प्रयोग के काल में) धर्म साध्य होता है तथा कहीं (अनुमान प्रयोग के काल में) धर्म से युक्त धर्मी साध्य होता है।

भावार्थ—जहा २ धूम होता है वहा २ वह्नि होती है तथा जहा वह्नि नहीं होती, वहा २ धूम भी नहीं होता है इस प्रकार की व्याप्ति के समय में अग्नि रूप धर्म ही साध्य होता है, अन्य नहीं। और इस पर्वत में अग्नि है क्योंकि इसमे धूम है इस प्रकार के अनुमान के समय अग्नि से विशिष्ट पर्वत ही साध्य होता है।

उसी धर्मी का दूसरा नाम :—

पक्ष इति यावत् ॥ २६ ॥

भाषार्थ—उसी धर्मी को पक्ष भी कहते हैं।

वह पक्ष प्रसिद्ध होता है :—

प्रसिद्धो धर्मी ॥ २७ ॥

भाषार्थ—धर्मी (पक्ष) प्रसिद्ध होता है।

भावार्थ—वह प्रसिद्धता कहीं प्रमाण से, तथा कहीं विकल्प से और कहीं प्रमाणविकल्प से होती है।

विकल्पसिद्ध धर्मी में साध्य का नियम :—

विकल्पसिद्धे तस्मिन् सत्तेतरे साध्ये ॥ २८ ॥

भाषार्थ—विकल्प सिद्ध धर्मी में सत्ता (अस्तित्व = मौजूदगी) तथा असत्ता (गैरमौजूदगी) दो ही साध्य होते हैं यह नियम है।

भावार्थ—जिस पक्ष का न तो किसी प्रमाण से अस्तित्व सिद्ध हो, और न नास्तित्व सिद्ध हो, उस पक्ष को विकल्प सिद्ध कहते हैं। वही न्यायदीपिका में लिखा है कि—"अनिश्चित प्रामाण्याप्रामाण्यप्रत्ययगोचरत्वं विकल्पसिद्धत्वम्"।

उन दोनो साध्यों के दृष्टान्त एवं हैं :—

अस्ति सर्वज्ञो नास्ति खरविषाणम् ॥ २९ ॥

भाषार्थ—सर्वज्ञ है तथा खरविषाण (गधे का सींग) नहीं है।

भावार्थ—सर्वज्ञ है, यहां पर सर्वज्ञ पक्ष विकल्पसिद्ध है, क्योंकि अभी तक सर्वज्ञ का अभाव और सद्भाव दोनों ही सिद्ध नहीं हैं। 'सर्वज्ञ है' इस में, "क्योंकि उसका कोई बाधक प्रमाण नहीं है" यह 'हेतु' समझना चाहिए। खरविषाण नहीं है यहां पर "प्राप्त होने योग्य होकर भी वह पाया नहीं जाता,, यह 'हेतु' जानना चाहिए, और यह भी पक्ष विकल्पसिद्ध ही है।

अब प्रमाणसिद्ध और प्रमाणविकल्पसिद्ध धर्मी में साध्य बतलाते हैं:—

प्रमाणोभयसिद्धे तु साध्यधर्मविशिष्टता ॥ ३० ॥

भाषार्थ—प्रमाण (प्रत्यक्ष अनुमान आदि) से और प्रमाण-विकल से प्रसिद्ध धर्मी में साध्य धर्म से विशिष्टता अर्थात् सयुक्तता साध्य होती है।

भावार्थ—इन दो धर्मिओं में कोई साध्य का नियम नहीं है, जैसा कि विकल्पसिद्ध धर्मी में असत्ता और सत्ता का है।

इसी को दृष्टान्त से पुष्ट करते हैं:—

अग्निमानयं देशः परिणामी शब्द इति यथा ॥३१॥

भाषार्थ—जैसे यह प्रदेश अग्निवाला है' यहा पर्वत आदि प्रदेश, प्रत्यक्ष आदिसे सिद्ध रहते है। और "शब्द परिणमनशील होते हैं" यहा शब्द (पक्ष) वर्तमान काल वाला तो प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है, परन्तु भूत और भविष्यत् शब्द विकल्प सिद्ध हैं, इस लिए शब्द रूप पक्ष प्रमाणविकल्पसिद्ध धर्मी है।

व्याप्ति कालमें साध्य का नियमः—

व्याप्तौ तु साध्यं धर्म एव ॥ ३२ ॥

भाषार्थ—व्याप्ति के काल में धर्म ही साध्य होता है, धर्म विशिष्ट धर्मी नहीं।

इसी निषेध को पुष्ट करते हैं:—

अन्यथा तदघटनात् ॥ ३३ ॥

भापार्थ—धर्म विशिष्ट धर्मी (पक्ष) को साध्य करने से व्याप्ति ही नहीं बनती है।

भावार्थ—जहा २ धूम होता है-वहा २ पर्वत ही अग्नि वाला हो, सो तो ठीक नहीं, किन्तु कहीं पर्वत रहेगा, कहीं रसोई घर रहेगा, इस लिए व्याप्ति काल में धर्म विशिष्ट धर्मी (पक्ष) साध्य नहीं हो सकता है।

बौद्ध मानते है कि पक्ष बोलने की ज़रूरत नहीं है, क्यों कि साध्य, विना आश्रय के नहीं रह सकता; इस लिए साध्य के बोलने से ही पक्ष स्वतः सिद्ध हो जायगा।

आचार्य उत्तर देते हैः—

साध्यधर्माधारसन्देहापनोदाय गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनम् ॥ ३४ ॥

भापार्थ—साध्य धर्म (अग्नि) के आधार में सन्देह (पर्वत है या रसोईघर) को दूर करने के लिए स्वत सिद्ध, पक्ष का भी प्रयोग किया जाता है।

भावार्थ—यद्यपि साध्य के बोलने मात्र से ही पक्ष उपस्थित होजाता है, तथापि उसमें (पक्ष मे) सन्देह न हो, इस लिए स्वत सिद्ध पक्ष का भी प्रयोग करते है।

उसी को दृष्टान्त से दृढ करते हैः—

साध्यधर्मिणि साधनधर्मावबोधनाय पक्षधर्मोप संहारवत् ॥ ३५ ॥

भावार्थ—जैसे कि साध्य से युक्त धर्मी (पक्ष) में साधन को समझाने के लिए उपनय (पक्ष में हेतु का दूसरे प्रदर्शन) किया जाता है।

भावार्थ—इसदेश में अग्नि है क्योंकि धूम है जहा २ धूम होता है वहा २ अवश्य अग्नि होती है जैसे रसोईघर। इस प्रकार साध्य (अग्नि) के साथ व्याप्ति को रखनेवाले, साधन (धूम) को दिखाने से ही, उनका (साध्य साधन का) आधार मालूम हो जाता है क्योंकि वे विना आधार के रह ही नहीं सकते हैं। फिर आगे जाकर "जैसा रसोई घर धूमवाला है उसी तरह यह पर्वत भी धूमवाला है" यह उपनय अर्थात् खास पक्ष में दुबारा धूम का प्रदर्शन क्यों किया जाता है, इसी लिए न? कि निश्चित पक्ष में साधन मालूम होजाय। बस, इसी तरह निश्चित पक्ष में साध्य मालूम होजाय। इसी लिए, स्वतः सिद्ध होने पर भी पक्षका प्रयोग किया जाता है। अथवा दूसरा उत्तर यह है, कि हेतु का प्रयोग ही नहीं करना चाहिए क्योंकि जब समर्थन किया जायगा अर्थात् यह कहाजायगा कि हमारा हेतु असिद्ध नहीं है, विरुद्ध नहीं है तथा अनैकान्तिक भी नहीं है, तब हेतु का प्रयोग स्वत ही सिद्ध हो जायगा। यदि कहो कि हेतु के प्रयोग विना समर्थन ही किसका होगा। तो हम पूछते हैं कि पक्ष-प्रयोग के विना साध्य कहा मालूम होगा?

इसी को आचार्य उपहास करते हुए कहते हैं:—

को वा त्रिधाहेतुमुक्त्वा समर्थयमानो न पक्षयति॥३६॥

भावार्थ—कौन ऐसा मनुष्य है जो तीन प्रकार के हेतु को

कह करके ही समर्थन तो करें, परन्तु पक्ष का प्रयोग न करें अर्थात् सब ही लोग पक्ष का प्रयोग करेंगे।

भावार्थ—जिसप्रकार विना कहे हेतुका समर्थन नहीं हो सकता है उसीतरह पक्षके प्रयोग विना साध्यके आधारका भी तो निश्चय नहीं हो सकता है। इसलिए पक्ष प्रयोग करना ठीक ही है। यहाँ हेतुके तीनप्रकार स्वभावहेतु, कार्यहेतु और अनुपलब्धि हेतु लेना, अथवा पक्षसत्व सपक्षसत्व और विपक्ष व्यावृत्ति लेना।

यहाँ सांख्य कहता है कि अनुमान के दो (पक्ष और हेतु) ही अवयव नहीं; किन्तु तीन अवयव (अंग) हैं, जैसे पक्ष, हेतु और उदाहरण। क्योंकि जिस तरह पक्ष और हेतु साध्य की सिद्धि में कारण हैं उसी तरह उदाहरण भी है, फिर उदाहरण अनुमान का अवयव क्यों नहीं? दूसरी बात यह है कि उदाहरण के विना वादी और प्रतिवादी की समान बुद्धि कहाँ होगी। परन्तु जैनी कहते हैं कि अनुमान-प्रयोग के दो अर्थात् पक्ष और हेतु ही अवयव हैं अन्य नहीं। सोही कहते हैं :—

एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम् ॥ ३७ ॥

भाषार्थ—पक्ष और हेतु-ये दोनों ही अनुमान के होने में कारण हैं अर्थात् अनुमान के अंग हैं। उदाहरण नहीं।

भावार्थ—यहाँ उदाहरण का निषेध किया है।

किसी का कहना है कि उदाहरण के विना साध्य

ज्ञान ही नहीं हो सकता है; इसलिए उदाहरण का
ग करना चाहिए। उत्तर इस प्रकार है :—

नहि तत्साध्यप्रतिपत्त्यङ्गं तत्र यथोक्तहेतो-
र्व्यापारात् ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—उदाहरण साध्य के ज्ञान का कारण नहीं है,
ोंकि साध्य के ज्ञान में निश्चित हेतु ही कारण होता है।

भावार्थ—जिस हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव
र्णीत है, वह हेतु अवश्य ही अपने साध्य को बतावेगा, फिर
दाहरण के प्रयोग की कोई भी आवश्यकता नहीं।

इसके बाद भी किसी का कहना है कि उदाहरण के
योग बिना, साध्य के साथ हेतु का अविनाभाव ही निश्चित
हीं हो सकता है। फिर ऊपर के सूत्र से निषेध कैसे होगा
र्थात् नहीं होगा; इसलिए उदाहरण का प्रयोग करना
चाहिए। जिस से कि साध्य के साथ हेतु का अविनाभाव
निर्णीत होवे। उत्तर इस प्रकार है :—

तदविनाभावनिश्चयार्थं वा विपक्षे बाधकादेव
तत्सिद्धेः ॥ ३९ ॥

भाषार्थ—साध्य के साथ, हेतु (साधन) के अविनाभाव के
निर्णय में भी, उदाहरण कारण नहीं है; क्योंकि विपक्ष में बाधक
प्रमाण मिलने से ही साध्य के साथ हेतु का अविनाभाव सिद्ध
हो जाता है अर्थात् यह बात सिद्ध हो जाती है कि यह साधन
अमुक साध्य के बिना हो ही नहीं सकता है।

भावार्थ—साध्य से विजातीय धर्म वाले धर्मी को विपक्ष कहते

हैं। जैसे पर्वत में अग्नि सिद्ध करने के समय, रसोईघर तो सपक्ष होता है, क्योंकि साध्य से सजातीय धर्म वाले धर्मी को सपक्ष कहते हैं. और तालाब विपक्ष होता है, क्योंकि उसमें साध्य (अग्नि) से विजातीय धर्म (जल) है। अब देखिए, कि धूम हेतु का अग्नि साध्य के साथ यों अविनाभाव सिद्ध होता है कि तालाब में अग्नि के अभाव में धूम नहीं पाया जाता है, यदि पाया जाय, तो धूम और अग्नि के कार्यकारणभाव का भगरूप बाधकप्रमाण उपस्थित होगा। बस; ऐसे ही विपक्ष में बाधक प्रमाण (तर्कप्रमाण) मिलते हैं, जिन्हों से साध्य के साथ साधन का अविनाभाव निर्णीत होजाता है फिर उदाहरण की आवश्यकता ही क्या ? कुछ भी नहीं।

दूसरी बात यह है :—

व्यक्तिरूपं च निदर्शनं सामान्येन तु व्याप्तिस्तत्रापि तद्विप्रतिपत्तावनवस्थानं स्याद्दृष्टान्तान्तरापेक्षणात् ॥ ४० ॥

भावार्थ—किसी खास व्यक्तिरूप (महानस या पर्वतरूप) तो उदाहरण होता है। और सामान्य रूप अर्थात् सम्पूर्ण देश में सपूर्ण काल में तथा सपूर्ण आकारों में रहने वाले साध्य और साधन को ग्रहण करने वाली व्याप्ति होती है। फिर बतलाइए, कि एक व्यक्तिरूप दृष्टान्त, सामान्यरूप व्याप्ति (अविनाभाव) को कैसे ग्रहण करसकता है (नहीं कर सकता है) और यदि उस उदाहरण रहने वाले साध्य साधन के विषय में विवाद खड़ा होजाय, तो दूसरे दृष्टान्त की अर्थात् दृष्टान्तके लिए भी दृष्टान्त की आवश्यकता जिस से कि अनवस्था नाम का दोष आवेगा।

भावार्थ—जिसप्रकार एक दृष्टान्तकी सचाईके लिए दूसरे दृष्टान्तकी आवश्यकता हुई, उसीप्रकार उसकी सचाईके लिए तीसरे-की और तीसरेकी सचाईके लिए चौथेकी आवश्यकता होगी, जिस से गगनतलमें फैलनेवाली बड़ी भारी अनवस्था चलीजायगी अर्थात् कहीं पर छोर नहीं आवेगा। अप्रमाणिक अनन्त पदार्थोंकी कल्पना में विश्रान्ति नहीं होने को ही अनवस्था दोष कहते हैं।

इसके बाद भी किसी का कहना है, कि व्याप्ति का निश्चय उदाहरण से नहीं होता है तो जाने दीजिए; परन्तु व्याप्ति का स्मरण तो होता है बस; पूर्व में ग्रहण की हुई व्याप्ति के स्मरण कराने के लिए ही उदाहरण का प्रयोग करिए। उत्तर यह है :—

नापि व्याप्तिस्मरणार्थं तथाविधहेतुप्रयोगा देव तत्स्मृतेः ॥ ४१ ॥

भाषार्थ—व्याप्ति के स्मरण कराने के लिए भी उदाहरण का प्रयोग करना कार्यकारी नहीं है, क्योंकि साध्य के बिना नहीं होने वाले, हेतु के प्रयोग से ही व्याप्ति का स्मरण हो जाता है।

भावार्थ—जब ऐसे हेतु का प्रयोग किया जायगा, जो कि साध्य के बिना हो ही नहीं सकता है तो अवश्य ही उसी से व्याप्ति स्मृत हो जायगी, उदाहरण की कोई भी आवश्यकता नहीं।

विशेष बात यह है कि पूर्व अनुभूत पदार्थ का ही स्मरण होता है सो यदि व्याप्ति पूर्व अनुभूत रहेगी, तो हेतु-प्रयोग से ही

उसका स्मरण हो जायगा, और जिसने पहले कभी व्याप्ति का अनुभव किया ही नहीं, उसके लिए सौ वार भी दृष्टान्त कहा जाय, परन्तु कभी व्याप्ति का स्मारक नहीं होगा।

ऊपर के कथन से यह तो सिद्ध हो गया, कि उदाहरण साध्य की सिद्धि में उपयोगी नहीं; परन्तु इतना ज़रूर है कि यदि केवल दृष्टान्त का प्रयोग किया जायगा; तो उल्टा साध्य की सिद्धि में सन्देह करा देगा। सोही आचार्य कहते हैं:—

तत्परमभिधीयमानं साध्यधर्मिणि साध्य साधने सन्देहयति ॥ ४२ ॥

भाषार्थ—यदि केवल (उपनय और निगमन के बिना) उदाहरण का प्रयोग किया जायगा, तो साध्य धर्म वाले धर्मी (पक्ष) में साध्य के सिद्ध करने में सन्देह करा देगा।

भावार्थ—उदाहरण (रसोईघर) के बोलने से पर्वत (पक्ष) में क्या आया, जिससे कि यह निश्चय हो जाय, कि यहा अग्नि है। किन्तु सन्देह अवश्य होगा, कि जैसी रसोईघर में अग्नि थी वैसी अग्नि यहा कहा से आई।

इसी सन्देह को पुष्ट करते हैं:—

कुतोऽन्यथोपनयनिगमने ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—यदि उदाहरण के प्रयोग से सन्देह नहीं होता तो उपनय और निगमन का प्रयोग क्यों किया जाता है।

भावार्थ—उपनय और निगमनका प्रयोग संशयके दूर करने ही किया जाता है, इससे सिद्ध हुआ, कि उदाहरण में सन्देह होता है। उपनय और निगमनका स्वरूप आगे कहा जायगा।

यहां नैयायिक कहता है कि उपनय और निगमन भी अनुमान के अङ्ग (कारण) हैं, इस कारण जब तक उन का प्रयोग नहीं किया जायगा; तब तक यथार्थ साध्य की सिद्धि नहीं होगी, इसलिए उनका भी प्रयोग करना चाहिए। उत्तर इस प्रकार है :—

न च ते तदङ्गे साध्यधर्मिणि हेतुसाध्ययोर्वचनादेवासंशयात् ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—उपनय और निगमन भी अनुमान के अङ्ग नहीं हैं, क्योंकि हेतु और साध्य के बोलने से ही साध्य धर्म वाले धर्मी (पक्ष) में सन्देह मिट जाता है।

भावार्थ—जब कि हेतु और साध्य के बोलने मात्र से पक्ष में संशय नहीं रहता है तब उपनय और निगमन अनुमान अङ्ग होकर ही क्या करेंगे अर्थात् उनकी निरर्थक कल्पना होगी

दूसरा उत्तर यह है कि थोड़ी देर के लिए उदा आदिक का प्रयोग मान भी लिया जाय; तब भी हे समर्थन तो अवश्य ही करना पड़ेगा; क्योंकि जिस हे समर्थन नहीं हुआ, वह हेतु ही नहीं हो सकता है कहते हैं:—

समर्थनं वा वरं हेतुरूपमनुमानावयवो वास्तु साध्ये तदुपयोगात् ॥ ४५ ॥

भाषार्थ—समर्थन ही वास्तविक हेतु का स्वरूप है और वही अनुमान का अंग है; क्योंकि साध्य की सिद्धि में उसी का उपयोग होता है।

भावार्थ—जब समर्थन ही साध्य की सिद्धि करा देता है, तो हेतु को बोलकर उसी का समर्थन करना ही कार्यकारी हुआ, अन्य (उदाहरण आदिक) नहीं। दोषों का अभाव दिखाकर हेतु के पुष्ट करने को समर्थन कहते हैं। हेतु के दोष आगे कहे जाँयगे।

मन्दबुद्धिवाले विद्यार्थियों को समझाने के लिए उदाहरण, उपनय और निगमन का प्रयोग करना जैनी लोग मानते हैं। सो ही कहते हैं :—

बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्त्रयोपगमे शास्त्र एवासौ न वादेऽनुपयोगात् ॥ ४६ ॥

भाषार्थ—बालकों को समझाने के लिए उदाहरण, उपनय और निगमन की स्वीकारता शास्त्र में ही है वाद में नहीं, क्योंकि वाद करने का विद्वानों को ही अधिकार होता है, इसलिए वहाँ (वाद में) उदाहरण आदिक का प्रयोग उपयोगी नहीं।

भावार्थ—वाद के अधिकारी विद्वान् लोग, पहले से ही व्युत्पन्न रहते हैं फिर उनके लिए उदाहरण आदिक की आवश्यकता ही क्या? कुछ नहीं।

दृष्टान्त के भेदः—

दृष्टान्तो द्वेधा अन्वयव्यतिरेकभेदात् ॥ ४७॥

भाषार्थ—दृष्टान्त के दो भेद हैं। एक अन्वयदृष्टान्त दूसरा व्यतिरेकदृष्टान्त।

अन्वयदृष्टान्त का स्वरूप।

साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टान्तः ॥ ४८ ॥

भाषार्थ—जिस स्थान में, साध्य के साथ साधन की व्याप्ति (अविनाभाव) दिखाई जाय, उस स्थान को अन्वयदृष्टान्त कहते हैं।

भावार्थ—अन्वयव्याप्ति दिखाकर जो दृष्टान्त दिया जाता है उसको अन्वयदृष्टान्त कहते हैं। जहां २ धूम होता है वहां २ अग्नि होती है इस प्रकार साधन के सद्भाव को दिखाकर साध्य के सद्भाव को दिखाना अन्वयव्याप्ति है।

व्यतिरेकदृष्टान्त का स्वरूप।

साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेकदृष्टान्तः ॥ ४९ ॥

भाषार्थ—जिस स्थान में, साध्य के अभाव को दिखाकर साधन का अभाव दिखाया जाय, उस स्थान को व्यतिरेक दृष्टान्त कहते हैं।

भावार्थ—व्यतिरेकव्याप्ति दिखाकर जो दृष्टान्त दिया जाता है उसको व्यतिरेकदृष्टान्त कहते हैं। जहां २ अग्नि नहीं

होती है वहां २ धूम भी नहीं होता है इस प्रकार साध्य के अभाव में साधन का अभाव दिखाना व्यतिरेकव्याप्ति है।

उपनय का स्वरूप।

हेतोरुपसंहार उपनयः ॥ ५० ॥

भाषार्थ—पक्ष में हेतु के उपसहार अर्थात् दुहराने को उपनय कहते हैं।

भावार्थ—इस पर्वत में अग्नि है क्योंकि धूम है। फिर कोई एक दृष्टान्त देकर कहा जाता है कि 'उसी तरह इसमें धूम है" अथवा "यह धूमवाला है"। बस, पहले धूम है, कहा था फिर दुबारा कहा कि "इसमें धूम है' अतएव कहा जाता है कि पक्ष में साधन के दुहराने को उपनय कहते हैं।

निगमन का स्वरूप।

प्रतिज्ञायास्तु निगमनम् ॥ ५१ ॥

भाषार्थ—प्रतिज्ञा के दुहराने को अर्थात् दुबारा बोलने को निगमन कहते हैं जैसे कि "धूमवाला होने से यह अग्निवाला है"।

भावार्थ—निगमन का दृष्टान्त उपनय के भावार्थ से आगे समझना चाहिए। पंचावयव वाक्य आगे कहेंगे। उससे खुलासा हो जायगा।

उस अनुमान प्रमाण के भेद कहते हैं:—

तदनुमानं द्वेधा ॥ ५२ ॥

भाषार्थ—उस अनुमान के दो भेद हैं।

स्वार्थपरार्थभेदात् ॥ ५२ ॥

भाषार्थ—एक स्वार्थानुमान दूसरा परार्थानुमान।

स्वार्थानुमान का स्वरूप।

स्वार्थमुक्तलक्षणम् ॥ ५४ ॥

भाषार्थ—"साधनात्साध्यविज्ञानमनुमान" इस सूत्र से कहा हुआ ही, स्वार्थानुमान का लक्षण है।

भावार्थ—दूसरे के उपदेश बिना स्वत हुए, साधन से साध्य के ज्ञान को स्वार्थानुमान कहते है।

परार्थानुमान का स्वरूप।

परार्थं तु तदर्थपरामर्शिवचनाज्जातम् ॥५५॥

भाषार्थ—स्वार्थानुमान के विषय, साध्य और साधन को कहने वाले वचनों से उत्पन्न हुए ज्ञान को, परार्थानुमान कहते हैं।

भावार्थ—किसी पुरुष को स्वार्थानुमान हुआ कि यहाँ धूम है इस लिए अवश्य अग्नि होगी, क्योंकि अग्नि के विना धूम हो ही नहीं सकता। फिर वह अपने शिष्य को समझाने के लिए कहता है कि जहा धूम होता है वहा अवश्य अग्नि होती है इसी प्रकार यहा धूम है इसलिए यहा भी अग्नि होनी आवश्यक है। बस, वह (शिष्य) समझ लेता है। अब उसको जो ज्ञान हुआ है उसी को परार्थानुमान कहते हैं। क्योंकि परार्थानुमान का लक्षण घट गया, गुरु को स्वार्थानुमान हुआ था और उसके विषय थे साध्य (अग्नि) और साधन (धूम)। बस, उन्हीं को गुरु ने कहा, फिर गुरु के वचनों से शिष्य को साध्य का साधन से ज्ञान हुआ।

यहां किसी का कहना है कि परार्थानुमान तो वचनरूप होता है फिर यहाँ क्यों नहीं ग्रहण किया ? उत्तर यों है कि वचनों को गौणता से अनुमान कहा है क्योंकि वे अचेतन हैं और अचेतन से अज्ञान की निवृत्ति होती नहीं; इस लिए जब उनसे फल नहीं होता है तब उन्हों को साक्षात् प्रमाण नहीं कह सकते। हां! उपचार (गौणता) से कह सकते हैं। वह इस लिए, कि वे परार्थानुमान के कारण हैं और स्वार्थानुमान के कार्य भी हैं। सोही कहते हैं:—

तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात् ॥ ५६ ॥

भाषार्थ—परार्थानुमान के कारण होने से, परार्थानुमान के प्रतिपादक वचनों को भी, परार्थानुमान कहते हैं। अथवा यों कहिए कि उन वचनों का स्वार्थानुमान कारण है इस लिए उनको अनुमान कहते हैं।

भावार्थ—उपचार किसी प्रयोजन को अथवा किसी निमित्त को लेकर किया जाता है। सो यहां वचन एक तो परार्थानुमान के निमित्त हैं दूसरे शास्त्र में अनुमान के पांच अवयवों के व्यवहार करने में प्रयोजनीभूत हैं, क्योंकि ज्ञानस्वरूप आत्मा में प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन—इन पांच अवयवों का व्यवहार नहीं कर सकते हैं इस लिए उपचार से वचनों को भी परार्थानुमान संज्ञा है।

हेतु (साधन) के भेद:—

स हेतुर्द्वेधोपलब्ध्यनुपलब्धिभेदात् ॥५७॥

भाषार्थ—"साध्याविनाभावित्वेननिश्चितोहेतुः" इस सूत्र

से कहे गए हेतु के दो भेद हैं, एक उपलब्धिरूप, दूसरा अनुपलब्धिरूप।

बौद्ध का कहना है कि उपलब्धिरूपहेतु, विधि अर्थात् मौजूदगी का ही साधक होता है और अनुपलब्धिरूपहेतु निषेध अर्थात् गैरमौजूदगी का ही साधक होता है इस पर आचार्य अपना मत प्रगट करते हैं:—

उपलब्धि विधिप्रतिषेधयोरनुपलब्धिश्च ॥५८॥

भावार्थ—चाहे उपलब्धिरूपहेतु हो चाहे अनुपलब्धिरूप। दोनों ही विधि और प्रतिषेध दोनों के साधक हैं।

भावार्थ—आगे के सूत्रों से इस सूत्र का भावार्थ स्पष्ट हो जायगा। परन्तु इतनी बात जान लेना चाहिए कि उपलब्धि के दो भेद हैं। जिन में अविरुद्धोपलब्धि (१) तो विधि (मौजूदगी) की साधक है और विरुद्धोपलब्धि (२) निषेध की साधक है इसी प्रकार अनुपलब्धि के भी दो भेद हैं जिन में अविरुद्धानुपलब्धि (१) तो निषेध की साधक है और विरुद्धानुपलब्धि (२) विधि की साधक है।

अविरुद्धोपलब्धि के भेद:—

अविरुद्धोपलब्धिर्विधौ षोढा व्याप्यकार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरभेदात् ॥ ५९ ॥

भावार्थ—मौजूदगी को सिद्ध करने वाली, अविरुद्धोपलब्धि के छः भेद हैं। अविरुद्धव्याप्योपलब्धि, अविरुद्धकार्योपलब्धि, अविरुद्धकारणोपलब्धि, अविरुद्धपूर्वचरोपलब्धि, अविरुद्धोत्तरचरोपलब्धि, और अविरुद्धसहचरोपलब्धि।

भावार्थ—इन छहों भेदों के आदि में एक "साध्य से" इतना पद और जोड़ना चाहिए, तब यह अर्थ करना चाहिए कि साध्य से अविरुद्ध के व्याप्य की उपलब्धिरूप यह हेतु है इत्यादि।

बौद्ध का कहना है कि कार्यहेतु और स्वभावहेतु ये दोनों ही विधि के साधक हैं अन्य नहीं। कारणहेतु तो यों नहीं है कि यह नियम नहीं, कि जहां कारण हो वहां कार्य होवे ही। फिर कारण कार्यको कैसे जना सकता है अर्थात् नहीं जना सकता है। इसका उत्तर यह है :—

रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छद्भिरिष्टमेव किञ्चित्कारणं हेतु र्यत्र सामर्थ्याप्रतिबन्धकारणान्तरावैकल्ये ॥ ६० ॥

भावार्थ—रस के चखने से उसकी उत्पादिका सामग्री का अनुमान होता है। वह यह है, कि इस रस की उत्पादिका सामग्री हो गई, यदि नहीं हो गई होती, तो इस समय रस चखने में नहीं आता। और आता है। इस लिए एक सामग्री की सिद्धि होती है। फिर उस सामग्री से रूप का अनुमान होता है। वह यह है, कि रस की उपादिका सामग्री ने (रूपस्कंध ने) सजातीय रूपक्षण को उत्पन्न करके ही विजातीय रसक्षण को उत्पन्न किया है, यदि ऐसा न होता, तो रस के समान काल में रूप की प्रतीति नहीं होती। परन्तु होती है। इस से सिद्ध होता है कि उस सामग्री ने रूप को भी उत्पन्न किया है। इस प्रकार रस से सामग्री का और कारण रूप सामग्री से रूप का अनुमान माननेवाले बौद्धों ने कहीं पर

कारण रूप हेतु स्वय माना ही है जहाँ पर कि कारण की सामर्थ्य (शक्ति) का प्रतिबन्ध (रुकावट) नहीं होगा, तथा अन्य किसी कारण की कमी नहीं होगी।

भावार्थ—जहाँ कारण की शक्ति मणि मन्त्र वगैरह से रोक दी जायगी अथवा किसी सहाई कारण की कमी होगी, वहा कारण, कार्य का गमक अर्थात् जनाने वाला नहीं होगा। और दूसरी जगह तो अवश्य ही होगा।

इसी प्रकार पूर्वचर और उत्तरचर हेतु भी भिन्न ही है; क्योंकि उनका किसी भी हेतु मे अन्तर्भाव नहीं होता है। सोही दिखाते है :—

न पूर्वोत्तरचारिणोस्तादात्म्य तदुत्पत्तिर्वा कालव्यवधाने तदनुपलब्धेः ॥ ६१ ॥

भाषार्थ—पूर्वचर तथा उत्तरचर हेतुओं का साध्य के साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है अत स्वभाव हेतु में अन्तर्भाव नहीं होता है तथा तदुत्पत्तिसम्बन्ध भी नहीं है अत कार्य और कारणहेतु में भी अन्तर्भाव नहीं होता है। ये दोनों क्यों नहीं? इस का उत्तर यह है, कि काल के व्यवधान (फासले) में ये दोनों सम्बन्ध होते नहीं हैं।

भावार्थ—इन दोनों हेतुओं में साध्य मे अन्तर्मुहूर्त काल का व्यवधान (फासला) रहता है इस लिए इन मे कार्य और कारण की नाई तदुत्पत्तिसम्बन्ध नहा है तथा स्वभाव और स्वभावी की नाई तदात्म्यसम्बन्ध ...।

इस पर बौद्ध का कहना है कि काल के व्यवधान में भी कार्यकारणभाव होता है जैसे आगामीमरण अरिष्टों (अपशकुनों) का कारण होता है तथा अतीत (गुजरा हुआ) ज्ञान, उद्बोध (सो करके जागने की अवस्था के ज्ञान) का कारण होता है। उत्तर यह है:—

भाव्यतीतयो मरणजाग्रद्बोधयोरपि नारिष्टोद्बोधौ प्रति हेतुत्वम् ॥ ६२ ॥

भाषार्थ—आगामीमरण तथा बीताहुआ जागने की अवस्था का ज्ञान, क्रम से अरिष्ट (अपशकुन) और उद्बोध के लिए कारण नहीं है।

भावार्थ— आगामीमरण, अरिष्टोंका कारण नहीं तथा बीताहुआ सायकालका ज्ञान, प्रातःकालके ज्ञानका कारण नहीं है।

उसी में हेतु देते हैं:—

तद्व्यापाराश्रितं हि तद्भावभावित्वम् ॥ ६३ ॥

भाषार्थ—जिसकारण से कि कार्यकारणभाव का होना कारण के व्यापार की अपेक्षा रखता है।

भावार्थ—उसके (कारण के) सद्भाव में उसका (कार्य का) होना कारण के व्यापार के आधीन है। परन्तु जब मरण है ही नहीं तब उसका अरिष्ट के होने में व्यापार ही क्या होगा, जिससे कि कार्यकारणभाव मान लिया जाय। इसी प्रकार जाग्रद्बोध जब नष्ट ही हो गया, तब उसका भी उद्बोधके प्रति क्या व्यापार होगा?

इसीप्रकार सहचरहेतु भी सब हेतुओसे भिन्न है:—

सहचारिणोरपि परस्परपरिहारेणावस्थानात्सहोत्पादाच्च ॥ ६४ ॥

भाषार्थ—सहचारी (रूप=रस) पदार्थ परस्परकी भिन्नता से रहते हैं अर्थात् परस्परकी भिन्नतासे उनकी प्रतीति होती है, अत सहचारीहेतुका स्वभावहेतुमें अन्तर्भाव नहीं होसकता, और सहचारीपदार्थ एकसाथ उत्पन्न होते हैं इसकारण उनमें कार्य कारणभाव भी नहीं बनसकता है। जिससे कि कार्यहेतुमें अथवा कारणहेतुमें अन्तर्भाव कियाजाय।

भावार्थ—जिसप्रकार युगपत् उत्पन्नहुए गायके सींगोंमें कार्यकारणभाव नहीं होता है उसीप्रकार सहचरोंमें भी नहीं होता, इस लिए सहचरहेतु एक भिन्नही हेतु है।

अविरुद्धव्याप्योपलब्धिका उदाहरण।

परिणामी शब्दः कृतकत्वात्, य एवं स एवं दृष्टो यथा घटः कृतकश्चायं तस्मात्परिणामी, यस्तु न परिणामी स न कृतको दृष्टो यथा वन्ध्यास्तनन्धयः कृतकश्चायं तस्मात्परिणामी ॥ ६५ ॥

भाषार्थ—शब्द "परिणामी" होताहै क्योंकि वह कियाहुआ होता है जो २ किये हुए होते हैं वे २ पदार्थ परिणामी होते हैं जैसे घट। इसीतरह शब्दभी कियाजाता है अतएव वहभी परिणामी होता है। अथवा जो पदार्थ परिणामी नहीं होते हैं वे पदार्थ किये भी

नहीं जाते हैं जैसे वन्ध्यास्त्रीका पुत्र। बस; उसीतरह शब्द कृतक होता है इसीकारण परिणामी होता है।

भावार्थ—यहा अनुमानके वे पाच अवयव (अग) वतलाए गये हैं जिनकी बालव्युत्पत्तिके लिए आचार्यने प्रतिज्ञाकी थी। परिणामी (पक्ष या प्रतिज्ञा) कृतक (हेतु) घट (अन्वय दृष्टान्त) तथा वन्ध्यापुत्र (व्यतिरेकदृष्टान्त) और दोनों दृष्टान्तों के वाद "यह कृतक है" (उपनय) और "कृतक होनेसे परिणामी" यह निगमन है। यहा परिणामी साध्यसे अविरुद्धव्याप्य कृतकत्वकी उपलब्धि है। जो अल्पदेशमें रहें उसको व्याप्य कहते हैं और जो वहुतदेशमें रहें उसे व्यापक कहते हैं। अब देखिए, कि-परिणामित्व तो विना कियेहुए आकाशादि द्रव्योंमें रहनेसे व्यापक है और कृतकत्व केवल पुद्गलद्रव्यमें रहनेसे व्याप्य है। भावार्थ। केवल पुद्गलद्रव्यमें ही परिणामीपना और कृतकपना साथ रहते हैं अन्य द्रव्योंमें नहीं।

अविरुद्धकार्योपलब्धिका उदाहरण।

अस्त्यत्र देहिनि बुद्धि व्याहारादेः ॥ ६६ ॥

भाषार्थ—इस प्राणीमें बुद्धि है क्योंकि बुद्धिके कार्य वचन आदि पायेजाते हैं। यहा बुद्धि साध्य, और वचनादि हेतु है।

भावार्थ—यहाँ बुद्धिके अविरुद्धकार्य, वचनादिककी उपलब्धि है।

अविरुद्धकारणोपलब्धिका उदाहरण।

अस्त्यत्र छाया छत्रात् ॥ ६७ ॥

भाषार्थ—यहा छाया है क्योंकि छत्र मौजूद है।

भावार्थ—यहा छायाके अविरुद्धकारण छत्रकी मौजूदगी है।

अविरुद्धपूर्वचरोपलब्धिका उदाहरण ।

उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात् ॥ ६८ ॥

भाषार्थ—एकमुहूर्तके वाद रोहणीका उदय होगा क्योंकि कृतिकाका उदय होरहा है ।

भावार्थ—यहा रोहणीके उदयमे पूर्व होनेवाले कृतिकाकि उदयकी मौजूदगी है ।

अविरुद्धउत्तरचरोपलब्धिका उदाहरण ।

उद्गाद्भरणिः प्राक्तत एव ॥ ६९ ॥

भाषार्थ—एकमुहूर्तके पहलेही भरणिका उदय होगया है क्योंकि तिकाका उदय होरहा है ।

भावार्थ—यहा भरणिके अविरुद्धउत्तरचर, कृतिकाके उदय ी उपलब्धि है ।

अविरुद्धसहचरोपलब्धिका उदाहरण ।

अस्त्यत्र मातुलिङ्गे रूपं रसात् ॥ ७० ॥

भाषार्थ—इस मातुलिग (विजौरे) मे रूप है क्योंकि रस ।ाता है ।

भावार्थ—यहा रूपका अविरुद्धसहचर, रस मौजूद है ।

विरुद्धोपलब्धिके भेद :—

विरुद्धतदुपलब्धिः प्रतिषेधे तथा ॥ ७१ ॥

भावार्थ—प्रतिषेधसाधिका विरुद्धोपलब्धिके भी छह भेद हैं।

विरुद्धव्याप्योपलब्धि, विरुद्धकार्योपलब्धि, विरुद्धकारणोपलब्धि, विरुद्धपूर्वचरोपलब्धि, विरुद्धोत्तरचरोपलब्धि, और विरुद्धसहचरोपलब्धि।

भावार्थ—यहाँपर सब हेतुओंके आदिमें वह पद जोडना चाहिए, जिसकाकि आप प्रतिषेध करना चाहते है। बस, उसीके विरुद्धकी उपलब्धिरूप हेतु पड जायगा।

विरुद्धव्याप्योपलब्धिका उदाहरण।

नास्त्यत्र शीतस्पर्श औष्ण्यात् ॥ ७२ ॥

भाषार्थ—यहाँ शीतस्पर्श नहीं है क्योंकि शीतस्पर्शसे विरुद्ध–अग्नि–की व्याप्य–उष्णता–मौजूद है।

भावार्थ—जिसका व्याप्य मौजूद है वह उसीको जनावेगा।

विरुद्धकार्योपलब्धिका उदाहरण।

नास्त्यत्र शीतस्पर्शो धूमात् ॥ ७३ ॥

भाषार्थ—यहां शीतस्पर्श नहीं है क्योंकि शीतस्पर्शसे विरुद्ध–अग्नि–का कार्य–धूम–मौजूद है।

भावार्थ—अग्निका कार्य–धूम–रहकर अग्निको ही जनावेगा, शीतस्पर्श (ठंडेपन) को नहीं।

विरुद्धकारणोपलब्धिका उदाहरण।

नास्मिन् शरीरिणि सुखमस्ति हृदयशल्यात् ॥७४॥

भाषार्थ—इस जीवमें सुख नहीं है क्योंकि सुखके विरोधी दुःखका कारण, हृदय–शल्य–मानसिकव्यथा (आधि)–मौजूद है।

भावार्थ—दुःखका कारण मौजूद है इसलिए वह दुःखको ही जनावेगा।

निरुद्धपूर्वचरोपलब्धिका उदाहरण।

नोदेष्यति मुहूर्तान्ते शकटं रेवत्युदयात् ॥७५॥

भाषार्थ—एकमुहूर्तके बाद रोहणीका उदय नहीं होगा क्योंकि रोहणी (शकट) के उदयसे निरुद्ध-अश्विनीनक्षत्र-के पूर्वचर (पहले उदय होनेवाले) रेवतीका उदय होरहा है।

भावार्थ—रेवतीका उदय अश्विनीके उदयका पूर्वचर है इस लिए अश्विनीको ही जनावेगा। कि उदय होगी।

विरुद्धोत्तरचरोपलब्धिका उदाहरण।

नोद्गाद्भरणि र्मुहूर्तात्पूर्वं पुष्योदयात् ॥ ७६ ॥

भाषार्थ—एकमुहूर्तकाल पहले भरणिका उदय नहीं हुआ क्योंकि भरणिके उदयसे निरुद्ध-पुनर्वसु-के उत्तरचर (पीछे उदय होनेवाले) पुष्यनक्षत्रका उदय होरहा है।

भावार्थ—पुष्यनक्षत्रका उदय पुनर्वसुका उत्तरचर है इस लिए उसीके उदयको जनावेगा। कि होगया है।

विरुद्धसहचरोपलब्धिका उदाहरण।

नास्त्यत्र भित्तौ परभागाभावोऽर्वाग्भागदर्शनात् ॥ ७७ ॥

भाषार्थ—इस दीवालमें उसतरफके भागका अभाव नहीं है क्योंकि उसतरफके भागके अभावसे विरुद्ध–उसतरफके भागके सद्भाव–का साथी, इसतरफका भाग दीखरहा है।

भावार्थ—उसतरफके भागके सद्भावका साथी मौजूद है अत वह उसके सद्भावकोही कहेगा, कि उसतरफका भागभी मौजूद है।

अब प्रतिषेधसाधिका अविरुद्धानुपलब्धिका वर्णन करते हैं :—

अविरुद्धानुपलब्धिः प्रतिषेधे सप्तधा स्वभाव व्यापककार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरानुपलम्भभेदात्॥७८॥

भाषार्थ—प्रतिषेध (गैरमौजूदगी) की साधिका अविरुद्धा नुपलब्धिके सातभेद हैं। अविरुद्धस्वभावानुपलब्धि, अविरुद्धव्याप कानुपलब्धि, अविरुद्धकार्यानुपलब्धि, अविरुद्धकारणानुपलब्धि, अवि रुद्धपूर्वचरानुपलब्धि, तथा अविरुद्धोत्तरचरानुपलब्धि, और अविरुद्ध सहचरानुपलब्धि।

भावार्थ—यहांपर आप जिसका प्रतिषेध करना चाहते हैं उसीका अविरुद्धपना कहनेकी विवक्षा है।

अविरुद्धस्वभावानुपलब्धिका उदाहरण।

नास्त्यत्र भूतले घटोऽनुपलब्धेः ॥ ७९ ॥

भाषार्थ—इस भूतलमें घट नहीं है क्योंकि उसके स्वभाव (उपलब्ध होनेकी योग्यता) का अभाव है।

भावार्थ—घटके प्राप्तहोनेरूपस्वभावका भूतलमें अभाव है, वह घटके अभावको सिद्धकरता है। बस, यहां प्रि

भाषार्थ—यहाँ शिंशपा (सीसौन) नहीं है क्योंकि उसके व्यापक-वृक्ष-का अभाव है।

भावार्थ—जो बहुत देशमें रहे उसको व्यापक कहते हैं। इस रीति से यहा वृक्ष व्यापक है, अब देखिए, कि व्यापक-वृक्ष-के विना शिंशपा (व्याप्य) हो ही नहीं सकता, इसलिए वृक्षका अभाव, उसके अभावको सिद्धकरता है।

अविरुद्धकार्यानुपलब्धिका उदाहरण।

नास्त्यत्राप्रतिबद्धसामर्थ्योऽग्निः धूमानुपलब्धेः॥८१॥

भाषार्थ—यहाँ जिना सामर्थ्य (शक्ति) रुकी अग्नि नहीं है क्योंकि धूम नहीं पायाजाता है।

भावार्थ—सामर्थ्य (शक्ति) वाली अग्निके अविरुद्धकार्य-धूम-का यहाँ अभाव है इसलिए मालूम होता है कि यहाँ अग्नि नहीं है, अगर है, तो भस्म वगैरहमे ढकी हुई है।

अविरुद्धकारणानुपलब्धिका उदाहरण।

नास्त्यत्र धूमोऽनग्नेः ॥ ८२ ॥

भाषार्थ—यहाँ धूम नहीं है क्योंकि अग्नि नहीं है।

भावार्थ—धूमके अविरुद्धकारण-अग्नि-का अभाव धूमके अभावको सिद्धकरता है।

अविरुद्धपूर्वचरानुपलब्धिका उदाहरण।

न भविष्यति मुहूर्तान्ते शकटं कृत्तिकोदयानुपलब्धेः ॥ ८३ ॥

भापार्थ—एकमुहूर्तकालके बाद रोहणीका उदय नहीं होगा क्योंकि अभी कृतिकाका भी उदय नहीं हुआ है।

अविरुद्धोत्तरचरानुपलब्धिका उदाहरण।

नोद्गाद्भरणि मुंहूर्तात्प्रक्तत एव ॥ ८४ ॥

भापार्थ—एकमुहूर्त पहले भरणिका उदय नहीं होचुका है क्योंकि अभी कृतिकाका भी उदय नहीं हुआ है।

भावार्थ—कृतिकाका उदय भरणीके उदयसे पीछे होनेवाला है।

अविरुद्धसहचरानुपलब्धिका उदाहरण।

नास्त्यत्र समतुलायामुन्नामो नामानुपलब्धेः ॥८५॥

भापार्थ—इस तराजूमें उन्नाम (ऊँचापन) नहीं है क्योंकि नाम (नीचेपन) का अभाव है।

भावार्थ—जब तखडी एकतरफ उठती है तो दूसरीतरफ नियमसेही नीची होजाती है इससे सिद्धहोता है कि उसका नीचापन और ऊचापन साथही होता है। बस, जब नीचापन नहीं है तो वह कहेगा, कि ऊँचापनभी नहीं है क्योंकि वे दोनों एकसाथ होते हैं।

अब विधिसाधिका विरुद्धानुपलब्धिको कहते हैं:—

विरुद्धानुपलब्धिर्विधौ त्रेधा विरुद्धकार्यकारणस्वभावानुपलब्धिभेदात् ॥ ८६ ॥

भापार्थ—विधिसाधिका विरुद्धानुपलब्धिके तीन भेद हैं। विरुद्धकार्यानुपलब्धि, विरुद्धकारणानुपलब्धि और विरुद्धस्वभावानुपलब्धि।

भावार्थ—यहाँपर साध्यसे विरुद्धके कार्यादिककी अनुपलब्धि विवक्षित है।

विरुद्धकार्यानुपलब्धिका उदाहरण।

यथाऽस्मिन्प्राणिनि व्याधिविशेषोऽस्ति निरामयचेष्टानुपलब्धेः ॥ ८७ ॥

भाषार्थ—जैसेकि इस प्राणीमें व्याधि (रोग) विशेष है अर्थात् कोई एकरोग है क्योंकि नीरोगचेष्टा नहीं पाईजाती है।

भावार्थ—व्याधिविशेषसे विरुद्ध उसके अभावका कार्य, नहीं पायाजाता है इसलिए अवश्य कोई रोग है।

विरुद्धकारणानुपलब्धिका उदाहरण।

अस्त्यत्र देहिनि दुःखमिष्टसंयोगाभावात् ॥८८॥

भाषार्थ—इस प्राणीमें दुःख है क्योंकि इष्टसंयोगका अभाव है।

भावार्थ—दुःखके विरोधी सुखके कारण, इष्टमित्रों तथा कुटुम्बियों वगैरह का अभाव है इसलिए अवश्य दुःख है।

विरुद्धस्वभावानुपलब्धिका उदाहरण।

अनेकान्तात्मकं वस्त्वेकान्तस्वरूपानुपलब्धेः॥८९॥

भाषार्थ—पदार्थ,अनेकधर्मवाले हैं क्योंकि उनमें नित्य आदिक एकान्तस्वरूपका अभाव है।

भावार्थ—अनेकान्तसे विरुद्ध–नित्य क्षणिक आदि एकान्तस्वरूप–का वस्तुओंमें अभाव है इसलिए वे अनेकान्तात्मक सिद्ध होती हैं।

यहा कोई कहता है कि जो परंपरासे साधन होसकता है उसको भी साधनोंमें गिनाना चाहिए। उत्तर यह है:—

परम्परया सम्भवत्साधनमत्रैवान्तर्भावनीयम्॥९०॥

भावार्थ—परम्परासे, जो साधन होसकते हैं उनका उपर्युक्त साधनोंमें ही अन्तर्भाव करना चाहिए।

उसीको उदाहरण-द्वारा पुष्ट करते हे:—

अभूदत्र चक्रे शिवकः स्थासात्॥ ९१ ॥

भावार्थ—इस चक्रपर शिवक होगया है क्योंकि स्थास मौजूद है।

भावार्थ—यह स्थासरूपहेतु परम्परासे शिवकका कार्य है। वह ऐसे है, कि जब कुभार घटको बनाता है तब घटके पहले मिट्टी की बहुतसी पर्यायें होजातीं है बादमें घट होता है उन्हीं पर्यायोंमें से ये पर्यायें हैं जिनमें पहले शिवक, बादमें शिवकका कार्य छत्रक होता है उसके बादमें स्थास होता है इसलिए स्थास, शिवकका परम्परासे कार्य है साक्षात् नहीं। क्योंकि साक्षात्कार्य छत्रक है।

यह हेतु अविरुद्धकार्योपलब्धिमें गर्भित होता है:—

कार्यकार्यमविरुद्धकार्योपलब्धौ ॥ ९२ ॥

भावार्थ—कार्यके कार्यरूपहेतुका-परम्पराकार्यहेतुका-अविरुद्धकार्योपलब्धिमें अन्तर्भाव होता है।

उसीको उदाहरणसे पुष्ट करते हैं:—

नास्त्यत्र गुहायां मृगक्रीड़नं मृगारिसंशब्दनात्
कारणविरुद्धकार्यं विरुद्धकार्योपलब्धौ यथा ॥९३॥

भावार्थ—इस गुफामें मृगकी क्रीडा नहीं है क्योंकि सिंह का शब्द होरहा है अर्थात् सिंह बोलरहा है। जिसप्रकार इस कारणविरुद्धकार्योपलब्धिका, विरुद्धकार्योपलब्धिमें अन्तर्भाव होता है, उसीप्रकार कार्यकार्यका, अविरुद्धकार्योपलब्धिमें अन्तर्भाव होता है।

भावार्थ—कारणविरुद्धकार्योपलब्धिको, इसतरह घटाना चाहिए, कि मृग-क्रीडाके कारण-मृग के विरोधी-सिंह-का, शब्दरूप-कार्य पायाजाता है।

व्युत्पन्नपुरुषोंके लिए प्रयोगका नियम :—

व्युत्पन्नप्रयोगस्तु तथोपपत्त्याऽन्यथानुपपत्त्यैव वा ॥ ९४ ॥

भावार्थ—व्युत्पन्न-पण्डित-पुरुषोंके लिए, तथोपपत्ति—साध्य के सद्भावमें ही साधन का होना—या अन्यथाऽनुपपत्ति—साध्यके अभाव में साधन का न होना—इस नियमसे ही प्रयोग करना चाहिये।

उसीको उदाहरण-द्वारा पुष्ट करते हैं:—

अग्निमानयं देशस्तथैव धूमवत्त्वोपपत्तेर्धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेर्वा ॥९५ ॥

भावार्थ— यह प्रदेश अग्निवाला है, क्योंकि तथैव—अग्निके सद्भावमें ही—यह धूमवाला होसकता है अथवा यह हेतु समझना चाहिए कि अग्निके अभावमें यह धूमवाला होही नहीं सकता है इसलिए इसमें अवश्य अग्नि है।

भावार्थ—इसमें यह बात दृढ़की गई है कि विद्वानोंके लिए उदाहरण वगैरहके प्रयोगकी आवश्यकता नहीं है।

किसीका कहना है कि यदि उदाहरण नहीं दिया जायगा; तो ये लोग व्याप्तिका निश्चय कैसे करेंगे। उत्तर यह है:—

हेतुप्रयोगो हि यथाव्याप्तिग्रहणं विधीयते सा च तावन्मात्रेण व्युत्पन्नैरवधार्यते ॥ ९६ ॥

भाषार्थ—जिसकी साध्यके साथ व्याप्ति निश्चित है ऐसे ही हेतुका प्रयोग कियाजाता है बस, उस हेतुके प्रयोगसे-उदाहरण आदिक के विना-ही बुद्धिमान् लोग व्याप्तिका निश्चय करलेते हैं।

भावार्थ—जबकि साध्यके विना नहीं होनेवाले हेतुका ही प्रयोग कियाजायगा, तो बुद्धिमान्लोग सुनकर यह निश्चय कर लेंगे कि जहां यह हेतु होगा वहाँ यह साध्यभी अवश्य रहेगा।

और :—

तावता च साध्यसिद्धिः ॥ ९७ ॥

भाषार्थ—उस हेतु (साध्यके विना नहीं होनेवाले हेतु) के प्रयोगसे ही साध्यकी सिद्धि होजाती है।

भावार्थ—साध्यकी सिद्धिमें दृष्टान्त आदिककी कोई जरूरत नहीं होती।

और पक्षका प्रयोग करना भी इसीसे सफल होजाता है:—

तेन पक्षस्तदाधारसूचनायोक्तः ॥ ९८ ॥

भाषार्थ—इसीकारण, तदाधारसूचनाय-साध्यके विना नहीं होने वाले, साधनका आधार जनानेको-ही पक्षका प्रयोग करना कहा है।

भावार्थ— जब साध्यके विना नहीं होनेवाल हेतुसे ही साध्य

की सिद्धि होजाती है तब उस साधनका स्थान दिखानेके लिये पक्षका प्रयोग करना ठीक ही है।

आगमके निमित्त और लक्षण:—

आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः॥९९॥

भाषार्थ—आप्तके वचन आदिकासे होनेवाले, पदार्थोंके ज्ञानको आगम कहतेहैं।

भावार्थ—मोक्षमार्गके नेता, कर्मोंके विनाशक और सर्वज्ञ आत्माके वचनोंसे तथा अंगुली आदि सञ्ज्ञाओंसे होनेवाले, द्रव्य गुण और पर्यायोंके ज्ञानको आगमप्रमाण कहते हैं।

कोई कहता है कि आप्तके वचनोंसे वास्तव अर्थोंका ज्ञान होता है इसमें कारण क्या? उत्तर यह है:—

सहजयोग्यतासङ्केतवशाद्धि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः॥१००॥

भाषार्थ—अर्थोंमें तथा शब्दोंमें वाच्य वाचक रूप एक स्वाभाविकी योग्यता है-शब्दोंमें वाचकरूप तथा अर्थोंमें वाच्यरूप योग्यता है, जिसमें संकेत होजानेसे शब्दादिक, पदार्थोंके ज्ञानमें हेतु होजाते हैं।

भावार्थ— घट शब्दमें कम्बुग्रीवादिवाले घड़ेको कहनेकी शक्ति है और उस घडेमें कहेजानेकी शक्ति है फिर, जिस पुरुषके ऐसा संकेत होजाता है कि यह शब्द घडेको कहता है, उस पुरुषको घटशब्दके सुननेमात्रसे ही घडेका ज्ञान होजाता है और शीघ्र ले भी आता है।

उसीका दृष्टान्त दिखाते हैं:—

यथा मेर्वादयः सन्ति॥१०१॥

भाषार्थ—जैसे मेरु आदिक हैं।

भावार्थ—जिसप्रकार मेरुशब्दके कहनेमात्रसे ही जम्बूद्वीपके मध्यवाले सुमेरुका ज्ञान होजाता है। इसीप्रकार सबजगह जानना चाहिए।

तीसरेपरिच्छेदका सारांश।

अविशदप्रतिभासवाले ज्ञानको परोक्षप्रमाण कहते हैं और वह अविशदता दूसरे ज्ञानोंकी सहायता लेनेसे आजाती है। भावार्थ—जो ज्ञान दूसरे ज्ञानकी सहायता लेता है वह परोक्ष कहाजाता है। इसके पाचभेद हैं। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। जिनके लक्षण और भेद पहले कहे जाचुके हैं। बस, इस परिच्छेदमें इन पाचोंका, या यों कहिये कि, परोक्षप्रमाणका वर्णन है।

इसप्रकार परोक्षप्रमाणका वर्णन हुआ।

इति तृतीय परिच्छेद।

अब प्रमाणके विषयका निर्णय करते हैं:—

सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः ॥ १ ॥

भाषार्थ—सामान्य और विशेषस्वरूप अर्थात् द्रव्य-पर्याय स्वरूप पदार्थ, प्रमाणका विषय होता है।

भावार्थ—द्रव्यके विना पर्याय और पर्यायके विना द्रव्य किसी भी प्रमाणका विषय नहीं होता है, किन्तु द्रव्यपर्यायरूप पदार्थ, प्रमाणका विषय होता है। एक २ को प्रमाणका विषय माननेमें बहुतसे दोष आते हैं जिनका कि अष्टसहस्त्रीमें पूर्ण खुलासा दिया है।

इसीमें हेतु देते हैं:—

अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात्पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च ॥ २ ॥

भाषार्थ—सामान्य-विशेषस्वरूप पदार्थ प्रमाणका विषय होता है अथवा यों कहिये, कि द्रव्यपर्यायस्वरूप पदार्थ प्रमाणका विषय होता है, क्योंकि वह अनुवृत्तप्रत्यय तथा व्यावृत्तप्रत्ययका विषय होता है। दूसरा हेतु यह है कि अर्थके पूर्वआकारका विनाश और उत्तर-आकारका प्रादुर्भाव होता है जिससे अर्थका स्थितिरूप परिणाम रहता है जिसके द्वारा कि उसमें अर्थ क्रिया होती है अर्थात् उत्पाद और व्यय में रहनेवाले स्थितिरूप परिणामद्वारा ही अर्थमें अर्थ-क्रिया होती है।

भावार्थ—अनुवृत्त और व्यावृत्त इन दोनों प्रत्ययोंका विषय होताहै इस कारण, तथा उत्पाद-विनाशको प्राप्त होताहुआ भी अपनी स्थितिको कायम रखकर, अपने कार्य (अर्थ क्रिया) को करताहै इसकारण, उभय स्वरूप अर्थात् सामान्य-विशेषस्वरूप पदार्थही, प्रमाणका विषय होता है। भावार्थ। अनुवृत्तप्रत्ययका विषय सामान्य होताहै और व्यावृत्तप्रत्ययका विषय विशेष होताहै तथा इसीप्रकार, द्रव्य (सामान्य) और पर्याय (विशेष) दोनोंरूप पदार्थमेंही अर्थ-क्रिया बनसकतीहै। केवल द्रव्य अथवा पर्यायमें नहीं। इससे सिद्ध होता है कि सामान्य-विशेषस्वरूप पदार्थही प्रमाणका विषय होता है। अर्थ-क्रिया-पदार्थोंके कार्यको कहतेहैं जैसे घटकी अर्थक्रिया जल-आहरण करना है। गौ गौ गौ इसप्रकारके प्रत्ययको अनुवृत्त-प्रत्यय और यह श्याम है यह चितकबरी है इसप्रकारके प्रत्ययको

व्यावृत्तप्रत्यय कहते हैं कहनेका तात्पर्य यह है कि यह वही है, ऐसी प्रतीतिको अनुवृत्तप्रत्यय और यह वह नहीं है ऐसी प्रतीतिको व्यावृत्तप्रत्यय कहते हैं।

सामान्यके भेदः—

सामान्यं द्वेधा तिर्यगूर्ध्वताभेदात् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—सामान्यके दो भेद हैं एक तिर्यक्सामान्य, दूसरा ऊर्ध्वतासामान्य।

तिर्यक्सामान्यका स्वरूप और दृष्टान्तः—

सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—परिणामोंकी सदृशताको तिर्यक्सामान्य कहते हैं। जैसे खाँडी मुण्डी शाबली आदि गायोंमें सदृशपरिणामरूप गोत्व रहता है।

भावार्थ—सबगायोंका समान परिणमन होता है इसलिए सब ही को एक गोशब्दसे पुकारते हैं इसीप्रकार ही सर्वत्र जानना। यहां गोत्व का अर्थ, सदृशपरिणाम लिया है। और वह प्रत्येक गायमें भिन्नता से रहता है—व्यक्तियोंके समानही संख्यावाला है, एक नहीं।

ऊर्ध्वतासामान्यका स्वरूप और दृष्टान्तः—

परापरविवर्तव्यापिद्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु ॥ ५ ॥

भाषार्थ—पूर्व और उत्तर पर्यायोंमें रहनेवाले, द्रव्यको ऊर्ध्वता सामान्य कहतेहैं। जैसे स्थास कोश कुशूलआदि पर्यायोंमें मिट्टी रहती है। वस, वह मिट्टी ही ऊर्ध्वतासामान्यशब्दसे पुकारी जाती है।

विशेषके भेदः—

विशेषश्च ॥ ६ ॥

भावार्थ—विशेषके भी दो भेद हैं। और वे -

पर्यायव्यतिरेकभेदात् ॥ ७ ॥

भावार्थ—एक पर्याय, दूसरा व्यतिरेक-ये हैं।

पर्यायविशेषका स्वरूप और उदाहरणः—

एकस्मिन्द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामः पर्याया आत्मनि हर्षविषादादिवत् ॥ ८ ॥

भावार्थ–एकद्रव्यमें क्रमसे होनेवाले परिणामों को पर्याय कहते हैं जैसे आत्मामें हर्ष और विषाद क्रमसे होते हैं।

व्यतिरेकविशेषका स्वरूप और उदाहरणः—

अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत् ॥ ९ ॥

भावार्थ—एकपदार्थकी अपेक्षासे दूसरे पदार्थमें रहनेवाले विसदृशपरिणामको व्यतिरेक कहते हैं जैसे गौसे महिष (भैंसा) में एक विलक्षण (भिन्न) ही परिणमन होता है।

चौथे परिच्छेदका सारांश।

प्रमाण, सामान्य विशेषस्वरूप पदार्थको विषय करता है अर्थात् सामान्य विशेष, उभयरूप पदार्थको जानता है। एक रूप पदार्थको नहीं। क्योंकि उसमें बहुत दोष आते हैं। उस सामान्य तथा विशेष

के दो २ भेद है, जिनका पूर्वमें ही विस्तारसे वर्णन कर चुके हैं।

इसप्रकार विषय परिच्छेद समाप्त हुआ।

इति चतुर्थ परिच्छेद।

अब प्रमाणके फलका निर्णय करते हैं:—

अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्चफलम्॥१॥

भाषार्थ—प्रमाणका साक्षात्फल, अज्ञानकी निवृत्ति है तथा परम्पराफल, हान, उपादान और उपेक्षा है।

भावार्थ—प्रमाण द्वारा पहले अज्ञानकी निवृत्ति (जुदाई) होती है बादमें किसी वस्तुका त्याग अथवा ग्रहण होता है अथवा उसमें उपेक्षारूप मध्यस्थभाव होजाता है इसलिये इन तीनोंको परम्परा फल कहते हैं और अज्ञानकी निवृत्तिको साक्षात्फल कहते हैं।

उस फलकी व्यवस्था:—

प्रमाणादभिन्नं भिन्नं च॥ २॥

भाषार्थ—वह फल, प्रमाणसे कथंचित् भिन्न तथा कथंचित् अभिन्न होता है।

उनमेसे अभिन्नपक्षका समर्थन करते हैं:—

यः प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्त उपेक्षते चेति प्रतीतेः॥ ३॥

भाषार्थ—जो जानताहै उसीका अज्ञान दूर होताहै वही किसी वस्तुको छोडता अथवा ग्रहण करता है अथवा मध्यस्थ होजाता है

इसलिये एक ज्ञानाकी अपेक्षासे प्रमाण और फल दोनों अभिन्न है। और प्रमाण तथा फलकी भेदरूप प्रतीति होती है इसलिए दोनों भिन्न है।

पांचवें परिच्छेदका सारांश।

प्रमाणके फलके दो भेद हैं एक साक्षात्फल दूसरा परम्परा फल। जिनमें अज्ञानकी निवृत्ति तो साक्षात्फल है और हान, उपादान, उपेक्षा, ये तीन परम्पराफल हैं। ये फल प्रमाणसे कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न माने हैं जिसका समर्थन अन्तिम सूत्रसे किया हुआ है।

भावार्थ—हान नाम छोडनेका, उपादान नाम ग्रहण करनेका और उपेक्षा नाम मध्यस्थभावका है।

इसप्रकार पांचवां परिच्छेद समाप्त हुआ।

इति पंचम परिच्छेद।

अब आभासोंका वर्णन करते हैं:—

ततोऽन्यत्तदाभासम् ॥ १ ॥

भावार्थ—ऊपर कहे हुए प्रमाणके स्वरूप, संख्या, विषय तथा फलसे विपरीत (उल्टे) प्रमाणस्वरूप आदिकोंको स्वरूपाभास, संख्याभास विषयाभास, और फलाभास कहते हैं।

स्वरूपाभासोंकी परिगणना:—

अस्वसंविदितगृहीतार्थदर्शनसंशयादयः प्रमाणाभासाः ॥ २ ॥

भावार्थ—अस्वसंविदित, गृहीतार्थ, दर्शन तथा संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय, इन ज्ञानोंको प्रमाणाभास कहते हैं।

भावार्थ—जो ज्ञान अपने स्वरूपको नहीं जानता, उसको अस्वसंविदित तथा जो ज्ञान किसी सच्चे ज्ञानद्वारा जाने हुए पदार्थ को जानता है, उसको गृहीतार्थ, और निर्विकल्पकज्ञान अर्थात् जिससे यह घट है यह पट है ऐसा निश्चय नहीं होता, उस ज्ञानको दर्शन कहते हैं। संशय आदिकका स्वरूप पहले कहा जाचुकाहै। ये सब ही प्रमाणाभास अर्थात् झूठेज्ञान हैं।

इनको प्रमाणाभास कहनेमें हेतुः—

स्वविषयोपदर्शकत्वाभावात् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—क्योंकि ये अपने विषयका निश्चय नहीं कराते हैं।

भावार्थ—अपने विषयमें अज्ञानकी निवृत्तिरूप फलको पैदा करनेवाले ज्ञानको प्रमाण कहते हैं परन्तु उपर्युक्तझूठे ज्ञानोंसे अज्ञान नहीं हटता है, इसलिए वे प्रमाण नहीं हो सकते हैं।

इसी बातको दृष्टान्तोंसे दृढ करते हैं:—

पुरुषान्तरपूर्वार्थगच्छत्तृणस्पर्शस्थाणुपुरुषादि ज्ञानवत् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—दूसरे पुरुषके ज्ञानकी भांति, अस्वसंविदितज्ञान, तथा पूर्वार्थ अर्थात् जानेहुए पदार्थके ज्ञानकी तरह, गृहीतार्थज्ञान, चलतेहुए पुरुषके तृणस्पर्शके ज्ञानकी तुल्य, दर्शन तथा यह ठूंठ है वा पुरुष, ऐसे ज्ञानकी तरह संशयज्ञान, अपने २ विषय को यथार्थपनेसे विषय नहीं करते हैं आदि पदसे सीपमें चांदीके ज्ञानकी नाँई विपर्ययज्ञान और चलतेहुए तृणस्पर्शके ज्ञानकी नाँई अनध्यवसाय भी अपने विषयको निश्चयरूपसे नहीं जानते हैं इस लिए वे प्रमाणाभास हैं।

अब सन्निकर्षके प्रमाणपनेका दृष्टान्तसे निषेध करते हैं:—

चक्षूरसयोर्द्रव्ये संयुक्तसमवायवच्च ॥ ५ ॥

भाषार्थ—जिसप्रकार द्रव्यमें चक्षु और रसका संयुक्तसमवाय होता हुआ भी प्रमाण नहीं होता है—ज्ञानरूपी फलको पैदा नहीं करता है, उसीतरह द्रव्यमें चक्षु और रूपका संयुक्तसमवाय भी ज्ञानरूपी फलको पैदा नहीं कर सकता है। इसलिए सन्निकर्ष, प्रमाण नहीं है।

प्रत्यक्षाभासका स्वरूपः—

अवैशद्ये प्रत्यक्षं तदाभासं बौद्धस्याकस्माद्धूमदर्शनाद्वन्हिविज्ञानवत् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—अविशदज्ञानको प्रत्यक्ष मानना प्रत्यक्षाभास है जैसे कि अकस्मात् धूम देखनेसे पैदा हुए वन्हिके ज्ञानको बौद्धलोग, प्रत्यक्ष मानते हैं। बस, यह उनका प्रत्यक्ष नहीं है, किन्तु प्रत्यक्षाभास है।

परोक्षाभासका स्वरूपः—

वैशद्येऽपि परोक्षं तदाभासं मीमांसकस्य करणज्ञानवत् ॥ ७ ॥

भाषार्थ— विशदज्ञानको परोक्ष मानना परोक्षाभास है जैसे कि मीमांसक, करणज्ञानको परोक्ष मानते हैं बस, यह उनका परोक्ष नहीं है, किन्तु परोक्षाभास है।

भावार्थ—जिसके द्वारा अज्ञान हटता है उसको करण ज्ञान कहते हैं और अज्ञानके हटनेको फलज्ञान कहते हैं।

परोक्षाभासके भेदोंमेंसे स्मरणाभास इसप्रकार है :—

अतस्मिंस्तदिति ज्ञानं स्मरणाभासं जिनदत्ते स देवदत्तो यथा ॥ ८ ॥

भावार्थ—जिस पदार्थका पहले कभी धारणारूप अनुभव नहीं हुआ था, उसके स्मरणको स्मरणाभास कहते हैं जैसे कि—जिनदत्तका स्मरण करके कहना, कि वह देवदत्त। यहां देवदत्तको कभी देखा नहीं था और स्मरण किया है, इसलिए वह स्मरण झूंठा है।

प्रत्यभिज्ञानाभासका स्वरूप: —

सदृशे तदेवेदं तस्मिन्नेव तेन सदृशं यमलकवदित्यादि प्रत्यभिज्ञानाभासम् ॥ ९ ॥

भावार्थ—सदृश पदार्थमें कहना कि यह तो वही पदार्थ है जिसे पहले देखा था, और उसी पदार्थमें कहना कि यह उसके सदृश है। जैसा कि, एकसाथ पैदा हुए दो मनुष्योंमें, उल्टा ज्ञान हो जाता है बस, इन दोनों ज्ञानोंको प्रत्यभिज्ञानाभास कहते हैं।

भावार्थ—पहले सादृश्य एकत्वादि प्रत्यभिज्ञान बतलाए थे बस, उन्हींके विपर्यय होनेसे ये प्रत्यभिज्ञान झूठे कहे जाते हैं।

तर्काभासका स्वरूप: —

असम्बद्धे तज्ज्ञानं तर्काभासम् ॥ १० ॥

भावार्थ—जिन पदार्थोंकी परस्परमें व्याप्ति नहीं है उनमें होनेवाले व्याप्ति (अविनाभावसम्बन्ध) के ज्ञानको तर्काभास कहते हैं।

भावार्थ—जैसे कि चैत्रके पुत्रोंकी श्यामपनेके साथ व्याप्ति

नहीं है फिर भी कहना कि जो २ चैत्रका पुत्र होता है वह २ काला होता है। यह ज्ञान, तर्क नहीं है, किंतु झूठा तर्क है।

अनुमानाभासका स्वरूपः—

इदमनुमानाभासम् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—नीचेके सूत्रोंमें कहे हुए सब अनुमानाभास हैं।

भावार्थ—अवयवाभासोंके दिखानेसे अनुमान स्वरूपाभास का वर्णन होजाता है क्योंकि अवयवोंको छोड़कर अनुमान, भिन्न कोई भी वस्तु नहीं हैं।

पक्षाभासका स्वरूपः—

तत्रानिष्टादिः पक्षाभासः ॥ १२ ॥

भाषार्थ—उन अवयवाभासोंमेंसे, अनिष्ट, बाधित और सिद्ध, इन तीनोंही पक्षोंको पक्षाभास कहते हैं।

अब अनिष्टपक्षाभासको स्पष्ट करते हैं:—

अनिष्टो मीमांसकस्यानित्यः शब्दः ॥ १३ ॥

भाषार्थ—मीमांसकोंको अनित्य शब्द अनिष्ट है-इष्ट नहीं है, क्योंकि उन्होंने शब्दको नित्य माना है।

भावार्थ—अगर मीमांसक, पक्ष बोलें कि शब्द अनित्य होता है तो वहां यही उत्तर पर्याप्त होगा, कि तुम्हारा पक्ष अनिष्ट नामका पक्षाभास है।

सिद्धपक्षाभासका उदाहरणः—

सिद्धः श्रावणः ॥ १४ ॥

भापार्थ—शब्द कर्ण इन्द्रियका विषय होता है, यह पच. सिद्ध नामका पक्षाभास है क्योंकि जब शब्दका प्रत्यक्षहीं होगया फिर पक्ष बनाकर सिद्ध करना निरर्थक है।

बाधितपक्षाभासके भेद :—

बाधितःप्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनैः ॥१५॥

भापार्थ—बाधित पक्षाभासके प्रत्यक्षबाधित, अनुमानबाधित, आगमबाधित, लोकबाधित और स्ववचनबाधित, ये पाच भेद है।

प्रत्यक्षबाधितका उदाहरण :—

तत्र प्रत्यक्षबाधितो यथा अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवत् ॥ १६ ॥

भापार्थ—इनमेंसे प्रत्यक्षबाधितका उदाहरण इसप्रकार है कि अग्नि ठंडी होती है क्योंकि वह द्रव्य है जो द्रव्य होता है वह ठंडा होता है जैसे जल।

भावार्थ—यहा " अग्नि ठंडी होती है " यह पक्ष, स्पार्शन प्रत्यक्षसे बाधित है क्योंकि छूनेसे अग्नि गर्म मालूम होती है।

अनुमानबाधितका उदाहरण :—

अपरिणामी शब्दः कृतकत्वाद्घटवत् ॥१७॥

भापार्थ—शब्द अपरिणामी होता है, क्योंकि वह किया जाता है जो किया जाता है वह अपरिणामी होता है जैसे घट।

भावार्थ—यहा " शब्द परिणामी होता है क्योंकि वह किया जाता है जो किया जाताहै वह परिणामी होता है जैसे घट। इस अनुमानमे, उपर्युक्त पक्षमें बाधा आतीहै इसलिए वह, अनुमानबाधित है।

आगमबाधितका उदाहरणः—

प्रेत्यासुखप्रदो धर्मः पुरुषाश्रितत्वादधर्मवत्॥१८॥

भाषार्थ—धर्म (पुण्य) परलोकमें दुःखका देनेवाला होता है क्योंकि वह पुरुषके आश्रयमें होता है जो २ पुरुषके आश्रयमें होता है वह २ दुःखदायी होता है जैसे अधर्म (पाप)।

भावार्थ—यह पक्ष आगमसे बाधित है क्योंकि आगममें धर्म सुखका देनेवाला और अधर्म दुःखका देनेवाला बतलाया गया है। यद्यपि दोनों पुरुषके आश्रयसे होते है तथापि वे भिन्न स्वभाववाले हैं।

लोकबाधितका उदाहरणः—

शुचि नरशिरःकपालं प्राण्यङ्गत्वाच्छंखशुक्तिवत् ॥ १९ ॥

भाषार्थ—मनुष्यके शिरका कपाल (खोपडी) पवित्र होता है, क्योंकि वह प्राणीका अंग है जो प्राणीका अंग होता है वह पवित्र होता है जैसे शंख और सीप।

भावार्थ—यह पक्ष लोकबाधित है क्योंकि लोकमें प्राणीका अंग होते हुए भी कोई चीज पवित्र और कोई अपवित्र मानी गई है।

स्ववचनबाधितका उदाहरण—

माता मे वन्ध्या पुरुषसंयोगेऽप्यगर्भत्वात् प्रसिद्धवन्ध्यावत् ॥ २० ॥

भाषार्थ—मेरी माता वन्ध्या है क्योंकि पुरुषका संयोग होने परभी उसके गर्भ नहीं रहता है जिसके पुरुषका संयोग होनेपर भी गर्भ नहीं रहता है वह वन्ध्या कही जाती है जैसे प्रसिद्धवन्ध्यास्त्री।

भावार्थ—स्वय मौजूद हे माता भी कह रहा है फिर कहता है कि मेरी माता वन्ध्या है यह पक्ष उसीके वचन (मेरीमाता) से बाधित है।

हेत्वाभासके भेद:—

हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्कराः ॥ २१ ॥

भापार्थ—असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर ये चार, हेत्वाभासके भेद हैं।

असिद्धहेत्वाभासके भेद और स्वरूपः—

असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः ॥ २२ ॥

भापार्थ—जिसकी सत्ताका अभाव हो उसको स्वरूपासिद्ध और जिसका निश्चय न हो उसको संदिग्धासिद्ध कहते हैं। बस, स्वरूपासिद्ध और संदिग्धासिद्ध, ये ही असिद्धहेत्वाभासके दो भेद हैं।

स्वरूपासिद्धका उदाहरण:—

अविद्यमानसत्ताकः परिणामी शब्दश्चाक्षुपत्वात् ॥ २३ ॥

भापार्थ—शब्द परिणामी होताहै क्योंकि वह चक्षुसे जाना जाताहै।

भावार्थ—"शब्द चक्षुसे जाना जाता है यह हेतु स्वरूपसे ही असिद्ध है क्योंकि शब्द, नेत्रसे नहीं, किन्तु कर्णसे जाना जाता है।

अब इसके स्वरूपासिद्ध होनेमें हेतु देते हैं:—

स्वरूपेणासत्वात् ॥ २४ ॥

भावार्थ—यह सांख्यसे ही ठीक नहीं है कि शब्द चक्षुसे जाना जाता है। किन्तु शब्द कर्णसे जाना जाता है।

संदिग्धासिद्धका उदाहरण:—

अविद्यमाननिश्चयो मुग्धबुद्धिं प्रत्यग्निरत्र धूमात् ॥ २५ ॥

भावार्थ—मुग्धबुद्धि अर्थात् किसी अज्ञानपुरुषसे कहना कि यहां अग्नि है क्योंकि धूम है। यह धूमहेतु संदिग्धासिद्ध है।

धूमहेतुके संदिग्धासिद्ध होनेमें हेतुः—

तस्य बाष्पादिभावेन भूतसंघाते सन्देहात् ॥२६॥

भावार्थ—मुग्धबुद्धिके प्रति इसलिए 'धूम' हेतु संदिग्धासिद्ध है कि उसे भूतसंघातमें[1] बाष्पादि देखनेसे सन्देह होजाता है कि यहां भी अग्नि है—अथवा होगी।

और भी असिद्धहेत्वाभासका भेद दिखाते हैं:—

सांख्यं प्रति परिणामी शब्दः कृतकत्वात् ॥ २७ ॥

भावार्थ—सांख्यके प्रति कहना कि शब्द परिणामी होता है क्योंकि वह किया जाता है। यह हेतु उसके प्रति असिद्ध है।

क्योंकि:—

तेनाज्ञातत्वात् ॥ २८ ॥

---

१ भूतसंघातसे चूल्हेमे उतारी हुई बटलोई लेना चाहिए, क्योंकि उसमें पृथ्वी, अप, तेज, वायु, चारोंही का समुदाय रहता है और भाप भी निकलता रहती है।

भाषार्थ—सांख्य कृतकता (कृतकपने) को जानता ही नहीं है क्योंकि उसके यहां आविर्भाव और तिरोभाव ही प्रसिद्ध हैं।

विरुद्धहेत्वाभासका स्वरूप और उदाहरण:—

विपरीतनिश्चिताविनाभावो विरुद्धोऽपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् ॥ २६ ॥

भाषार्थ—साध्यसे विपरीतके साथ जिसहेतुकी व्याप्ति हो उस हेतुको विरुद्धहेत्वाभास कहते हैं जैसे शब्द अपरिणामी होता है क्योंकि वह कृतक अर्थात् कियाजाता है। इस हेतुकी अपरिणामी पनेसे विपरीत परिणामीपनेके साथ व्याप्ति है।

भावार्थ—इस अनुमानमें अपरिणामी, साध्य है परन्तु कृतकत्वहेतु उसकेसाथ व्याप्ति नहीं रखता है किन्तु उससे उल्टे परिणामी पनेके साथ व्याप्ति रखता है इसलिए वह विरुद्ध है।

अनैकान्तिकहेत्वाभासका स्वरूप:—

विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः ॥ ३० ॥

भाषार्थ—जो हेतु, पक्ष और सपक्षमें रहता हुआ विपक्ष में भी रहे उसको अनैकान्तिक कहते हैं।

भावार्थ—साध्यसाध्यवाले धर्मीको पक्ष कहते हैं तथा साध्यके समानधर्मवाले धर्मीको सपक्ष कहते हैं और साध्यसे विरुद्ध धर्मवाले धर्मीको विपक्ष कहते हैं। बस, जो हेतु इन तीनोंमें रहता है उसे अनैकान्तिक व्यभिचारी-कहते हैं। उसके दो भेद हैं एक—शंकितविपक्षवृत्ति दूसरा निश्चितविपक्षवृत्ति।

निश्चितविपक्षवृत्तिका उदाहरण:—

निश्चितवृत्तिरनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात् घट-वत् ॥ ३१ ॥

भावार्थ—शब्द अनित्य होता है क्योंकि वह प्रमेय है जो प्रमेय होता है वह अनित्य होता है जैसे घट। यह प्रमेय हेतु, पक्ष शब्द में, सपक्ष घटमें, रहताहुआ विपक्ष आकाशमें भी रहता है इस लिए व्यभिचारी है परन्तु उसका विपक्षमें रहना निश्चित है इसलिए उसको निश्चितविपक्षवृत्ति कहते हैं।

इसीको पुष्ट करते हैं:—

आकाशे नित्येऽप्यस्य निश्चयात् ॥ ३२ ॥

भावार्थ—नित्य आकाशमें (विपक्षमें) भी इसका (प्रमेय हेतुका) निश्चय है इसलिए प्रमेयहेतु निश्चित व्यभिचारी है।

शंकितविपक्षवृत्तिका उदाहरण:—

शंकितवृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वात् ॥३३॥

भावार्थ—सर्वज्ञ नहीं है क्योंकि वह बोलनेवाला है। परन्तु "बोलनेवाला" यह हेतु रहजाय और सर्वज्ञपना भी रहजाय, इन दोनों बातोंमें कोई भी विरोध नहीं है इसलिए इस हेतुको शंकितव्यभिचारी कहते हैं। अर्थात् इसकी विपक्षमें रहनेकी शंका है।

सो ही कहते हैं:—

सर्वज्ञत्वेन वक्तृत्वाविरोधात् ॥ ३४ ॥

भावार्थ—सर्वज्ञपनेके साथ वक्तापनेका कोई विरोध नहीं है इसलिए सर्वज्ञके सद्भावरूपविपक्षमें भी यह हेतु (वक्तृत्व) रह सकता है।

आकिञ्चित्करहेत्वाभासका स्वरूपः—

सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः ॥ ३५ ॥

भावार्थ—साध्यके सिद्ध होनेपर तथा प्रत्यक्षआदि प्रमाण से बाधित होनेपर, हेतु कुछभी नहीं कर सकता है इसलिए वह अकिञ्चित्कर कहा जाता है।

सिद्धसाध्यवाले अकिञ्चित्करका उदाहरणः—

सिद्धः श्रावणः शब्दः शब्दत्वात् ॥ ३६ ॥

भावार्थ—शब्द, श्रावणज्ञानका विषय होता है क्योंकि वह शब्द है।

इसके अकिञ्चित्कर होनेमें हेतुः—

किञ्चिदकरणात् ॥ ३७ ॥

भावार्थ—यह शब्दत्व हेतु कुछ भी नहीं करता है क्योंकि शब्दका श्रावण ज्ञानके द्वारा जाना जाना सिद्ध ही है।

इसीको दृष्टान्तसे पुष्ट करते हैं :—

यथाऽनुष्णोऽग्नि द्रव्यत्वादित्यादौ किञ्चित्कर्तुमशक्यत्वात् ॥ ३८ ॥

भावार्थ—जिसप्रकार, अग्नि ठंडी होती है क्योंकि वह द्रव्य है, इत्यादि अनुमानोंमें कुछ भी नहीं करसकनेमें हेतु (द्रव्यत्व आदि)

अकिञ्चित्कर कहे जाते हैं इसीप्रकार ऊपरके सूत्रम जानना चाहिए।

अकिञ्चित्करहेत्वाभासके प्रयोगकी उपयोगिता :—

लक्षणे एवासौ दोषो व्युत्पन्नप्रयोगस्य पक्ष-दोषेणैव दुष्टत्वात् ॥ ३८ ॥

भावार्थ—हेतुके लक्षणके विचारके समयमें ही अकिञ्चित्कर नामका दोष देना चाहिए, वादकालमें नहीं। क्योंकि व्युत्पन्न पुरुषोंका प्रयोग, पक्षके दोषोंसे ही दुष्ट होजाता है।

हेत्वाभासोंका साराश।

झूठे हेतुको हेत्वाभास कहते हैं उसके चार भेद है असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर। जिनमें असिद्धके भी दो भेद हैं एक स्वरूपासिद्ध दूसरा संदिग्धासिद्ध। उनमें जिसके अभावका निश्चय हो उसको स्वरूपासिद्ध कहते हैं और जिसके सद्भावमें सन्देह हो उसको संदिग्धासिद्ध कहते हैं। साध्यसे विपरीत धर्मके साथ जिसकी व्याप्तिका निश्चय हो उसको विरुद्ध कहते है और विपक्षमें भी जो रहजाय उसको अनैकान्तिक (व्यभीचारी) कहते हैं उसके भी "जिसका विपक्षमें रहना निश्चित हो वह निश्चितव्यभिचारी, और जिसका विपक्षमें रहना शंकित हो वह शंकित व्यभिचारी, ऐसे दो भेद हैं और जो हेतु, साध्यकी सिद्धिमें कुछ भी मदद न देसके उस हेतुको अकिञ्चित्कर कहते हैं।

अन्वयदृष्टान्ताभासके भेद :—

दृष्टान्ताभासा अन्वयेऽसिद्धसाध्यसाधनो-भयाः ॥ ४० ॥

भापार्थ—अन्वयदृष्टान्ताभासके तीन भेद हैं साध्यविकल साधनविकल और उभयविकल।

तीनोंके उदाहरण:—

अपौरुषेयः शब्दोऽमूर्तत्वादिन्द्रियसुखपरमाणुघटवत् ॥ ४१ ॥

भापार्थ—शब्द अपौरुषेय होता है अर्थात् पुरुपका किया नहीं होता है, क्योंकि वह अमूर्त होता है जैसे कि इन्द्रियसुख। यह इन्द्रियसुख दृष्टान्त, साध्य, अपौरुषेयपनेसे रहित है क्योंकि इन्द्रियसुख पुरुषकृत ही होता है, इसीप्रकार परमाणुका दृष्टान्त, साधनविकल है क्योंकि परमाणु मूर्त अर्थात् रूप, रस, गन्ध और स्पर्श वाला होता है तथा घटका दृष्टान्त, उभय (साध्यसाधन) विकल है क्योंकि घट मूर्त होता है और पुरुषकृत भी होता है।

भावार्थ—जो दृष्टान्त, अन्वयव्याप्ति दिखाकर दिया जाता है उसको अन्वयदृष्टान्त कहते हैं उस व्याप्तिमें दो वस्तुएँ होती हैं एक साध्य दूसरा साधन। फिर जिस दृष्टान्तमें साध्य न होगा वह साध्यसे, और जिसमें साधन न होगा वह साधनसे, तथा जिसमें दोनों न होंगे, वह दोनोंसे रहित कहा जायगा।

और भी अन्वयदृष्टान्ताभास होता है:—

विपरीतान्वयश्च यदपौरुषेयं तदमूर्तम् ॥४२॥

भापार्थ—पूर्वोक्तअनुमानमें, जो अपौरुषेय होता है वह अमूर्त होता है, इसप्रकार उल्टे अन्वयके दिखानेको भी अन्वयदृष्टान्ताभास कहते हैं।

क्योंकि:—

विद्युदादिनाऽतिप्रसङ्गात् ॥ ४३ ॥

भावार्थ—बिजली आदिकसे अतिप्रसंग होताहै अर्थात् बिजली अपौरुषेय है इसलिए अमूर्तभी होनी चाहिए, परन्तु है नहीं। बस, इसीको अतिप्रसंग कहते हैं कि जो वस्तु जैसी है तो नहीं, परन्तु उसको वैसी माननेका मौका आजाय।

व्यतिरेकदृष्टान्ताभासके भेद और उदाहरण:—

व्यतिरेकेऽसिद्धतद्व्यतिरेकाः परमाण्विन्द्रिय-सुखाकाशवत् ॥ ४४ ॥

भावार्थ—व्यतिरेकदृष्टान्ताभासके तीन भेद हैं व्यतिरेक द्वारा साध्यविकल, साधनविकल और उभयविकल। पूर्वके अनुमानमें ही व्यतिरेकसे परमाणुका दृष्टान्त, साध्यविकल है क्योंकि वह पुरुषकृत नहीं है तथा इन्द्रियसुखका दृष्टान्त, साधनविकल है क्योंकि वह मूर्त नहीं है और आकाशका दृष्टान्त, उभयविकल है क्योंकि वह पुरुषकृत नहीं है और मूर्त भी नहीं है।

भावार्थ—जो दृष्टान्त व्यतिरेकव्याप्ति अर्थात् साध्यके अभावमें साधनका अभाव दिखाकर दिया जाता है उसको व्यतिरेक-दृष्टान्त कहते हैं उस व्यतिरेकव्याप्तिमें दो वस्तुएं होती हैं एक साध्याभाव, दूसरा साधनाभाव। फिर जिस दृष्टान्तमें साध्याभाव नहीं होगा वह साध्यसे, और जिसमें साधनाभाव नहीं होगा वह साधन से, तथा जिसमें दोनों नहीं होंगे, वह उभयसे रहित कहा जायगा। इनको साध्याभाव इत्यादिसे विकल न कहकर साध्य आदिसे विकल,

भावार्थ—रागी द्वेषी और अज्ञानी मनुष्योंके वचनोंसे उत्प
हुए आगमको आगमाभास कहते हैं।

उसीका दृष्टान्त देते हैं:—

यथा नद्यास्तीरे मोदकराशयः सन्ति धावध्वं माणवकाः ॥ ५२ ॥

भावार्थ—जैसे कि "बालको! दौडो, नदीके किनारे बहुत लड्डू पडे हुए हैं" ये वचन हैं।

दूसरा यह है:—

अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्त इति च ॥ ५३ ॥

भावार्थ—और जिसप्रकार यह है कि अगुलीके आगे हिस्सेपर हाथियोंके सौ समुदाय रहते हैं।

भावार्थ—सब वस्तुए सब जगह हैं, इसप्रकारके सिद्धान्त मानेनेवाले सांख्योंका, यह सिद्धान्त है।

इनके आगमाभास होनेमें हेतु:—

विसंवादात् ॥ ५४ ॥

भावार्थ—विवाद होनेके कारण, ये आगमाभास हैं। अर्था इनमें लोग विवाद करते हैं इसलिए ये आगम, झूंठे हैं।

भावार्थ—इनसे लोगोंको यथार्थ पदार्थोंका निर्णय न होता, इसलिए मनमाना गढन्त गढ़ते हुए एक दूसरेके विरु कहकर विवाद किया करते हैं। इसलिए ये आगम झूंठे हैं।

इसप्रकार प्रमाण-स्वरूपाभासका वर्णन हुआ।

अथ प्रमाण संख्याभासका वर्णन करते हैं :—

प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादि संख्याभासम् ॥५५॥

भापार्थ—प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है इत्यादि ५७वें में सूत्रसे कहे हुए सर्व ही संख्याभास हैं।

उसीमें हेतु दिखलाते हैं :—

लौकायतिकस्य प्रत्यक्षतः परलोकादिनिषेधस्य परबुद्ध्यादेश्चासिद्धेरतद्विषयत्वात् ॥ ५६ ॥

भापार्थ—चार्वाकका प्रत्यक्षही एक प्रमाण मानना, इसलिए संख्याभास है कि केवल प्रत्यक्षसे परलोक आदिका निषेध और पर की बुद्धि आदिकी सिद्धि नहीं होसकती है क्योंकि ये प्रत्यक्षके विषय नहीं है। और ऐसा नियम है कि जो जिसको विषय नहीं करता, वह उसका निषेध तथा विधान भी नहीं कर सकता है।

अब उसीको दृष्टान्तसे दृढ करते हैं :—

सौगतसांख्ययौगप्राभाकरजैमिनीयानां प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्त्यभावैरेकैकाधिकैर्व्याप्तिवत् ५७

भापार्थ—जिसप्रकार प्रत्यक्ष-अनुमानको आदि लेकर एक२ अधिक प्रमाणसे सौगत (बौद्ध) सांख्य, योग, प्राभाकर तथा जैमिनीय, व्याप्ति (अविनाभाव) का निर्णय नहीं करसकते हैं, उसीतरह चार्वाक भी एक प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही परलोक आदिके निषेधको तथा परकी बुद्धि आदिकी सिद्धिको, नहीं करसकता है।

भावार्थ—सौगत २ सांख्य ३ योग ४ प्राभाकर ५ और जैमिनीय ६ प्रमाण मानते हैं वे प्रमाण, प्रत्यक्ष अनुमान २

आगम ३ उपमान ४ अर्थापत्ति ५ अभाव ६-इसप्रकार हैं बस, सौगत आदिके नम्बरवाले, नम्बर तक सौगत आदिके प्रमाण समझना चाहिए। इन प्रमाणोंसे व्याप्तिका निर्णय नहीं होसकता है इसका सविस्तर वर्णन दूसरे ग्रन्थोंसे जानना चाहिए।

फिर भी चार्वाकका कहना है कि प्रत्यक्षसे नहीं तो अनुमानसे परलोक आदिका निषेध कर देवेंगे। उत्तर यह है:—

अनुमानादेस्तद्विषयत्वे प्रमाणान्तरत्वम्॥५८॥

भावार्थ—यदि अनुमानसे परलोक आदिका निषेध तथा पर की बुद्धि आदिकी सिद्धि करोगे, तो दूसरा अनुमान प्रमाण मानना पडेगा। तब तो प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण मानना सङ्ख्याभास है, यह बिलकुल स्पष्ट होजायगा।

उसीमे दृष्टान्त देते हैं:—

तर्कस्येव व्याप्तिगोचरत्वे प्रमाणान्तरत्वमप्रमाणस्याव्यवस्थापकत्वात् ॥ ५९ ॥

भावार्थ—जैसेकि व्याप्तिका निर्णय करनेके लिये सौगतादिक को एक भिन्न ही तर्क नामका प्रमाण मानना पडता है क्योंकि उनके मानेहुए प्रमाण, व्याप्तिका निर्णय नहीं करसकते हैं। जिसको संक्षेपसे पहले कहचुके हैं। यदि कोई कहे कि तर्कको मानकर भी प्रमाण नहीं मानेंगे, किन्तु अप्रमाण मान लेवेंगे। तब तो दूसरा प्रमाण नहीं मानना पडेगा, इसलिए दृष्टान्त विषम है? उत्तर यह है, कि "अप्रमाणस्याव्यवस्थापकत्वात्" अर्थात् जो स्वय अप्रमाण (झूठा) होता है वह ठीक २ पदार्थोंकी व्यवस्था अर्थात् पदार्थोंका निर्णय नहीं करसकता है।

दूसरा हेतु यह है:—

प्रतिभासभेदस्य च भेदकत्वात् ॥ ६० ॥

भाषार्थ—प्रतिभास भेद ही प्रमाणके भेदोंको सिद्धकरता है अर्थात् जिसने जितने प्रमाण माने हैं उनसे अधिक प्रमाणोंकी सिद्धि के लिए एक विलक्षण प्रतिभास ही साक्षी है।

भावार्थ—जिन्होंने २ ३ ४ ५ ६ इनमेंसे कोईभी संख्यावाले प्रमाण माने हैं उन सबके लिए व्याप्तिको विषय करनेवाला तर्कप्रमाण, प्रतिभास भेदसे अर्थात् विलक्षण प्रतिभास होनेसे मानना ही पड़ेगा, क्योंकि प्रतिभास भेदसे ही प्रमाणोंका भेद माना जाता है।

इसप्रकार संख्याभासका वर्णन हुआ।

अब प्रमाण-विषयाभासका स्वरूप कहते हैं:—

विषयाभासः सामान्यं विशेषो द्वयं वा स्वतन्त्रम् ॥ ६१ ॥

भाषार्थ—केवल सामान्य (द्रव्य) को ही अथवा केवल विशेष (पर्याय) को ही अथवा दोनोंरूप पदार्थको मानकरभी स्वतन्त्रतासे एक २ को प्रमाणका विषय मानना, विषयाभास है।

भावार्थ—सांख्य, पर्यायरहित केवल द्रव्य (सामान्य) को ही और बौद्ध द्रव्यांश रहित केवल पर्याय (विशेष) को ही प्रमाणका विषय मानते हैं तथा नैयायिक और वैशेषिक सामान्य और विशेष स्वरूप पदार्थको मानकर भी, सामान्य तथा विशेषको एक दूसरेकी सहायता रहित स्वतन्त्रतासे प्रमाणका विषय मानते हैं। परन्तु प्रमाण का विषय ऐसा है नहीं, इसलिए वे सब विषयाभास हैं।

उसीमें हेतु देते हैं:—

तथाप्रतिभासनात्कार्याकरणाच्च॥ ६२ ॥

भाषार्थ—क्योंकि केवल सामान्यरूपसे अथवा विशेषरूपसे वस्तुका प्रतिभास ही नहीं होता है तथा केवल सामान्यरूप अथवा केवल विशेषरूप पदार्थसे अर्थक्रिया नहीं होसकती है, इसलिए वे विषयाभास हैं।

भावार्थ—सामान्य-विशेषरूप ही पदार्थका प्रतिभास होता है तथा वैसा ही पदार्थ अपने कार्य (अर्थ-क्रिया) करनेमें समर्थ होता है अन्य, सामान्यरूप अथवा विशेषरूप पदार्थ नहीं, इसलिए वे विषयाभास कहे जाते हैं।

अगर कोई कहे कि, वे पदार्थ (एकान्तरूप पदार्थ) अपना कार्य करसकते हैं; तो हम उनसे पूछते हैं, कि वे स्वयं समर्थ होते हुए कार्य करते हैं? या असमर्थ? इन दोनों पक्षोंमेंसे पहले समर्थपक्षका खण्डन करते हैं:—

समर्थस्य करणे सर्वदोत्पत्तिरनपेक्षत्वात्॥६३॥

भाषार्थ—यदि वह पदार्थ समर्थ होता हुआ कार्य करता है तो निरन्तर ही कार्यकी उत्पत्ति होनी चाहिए, क्योंकि वह दूसरे किसी की अपेक्षा ही नहीं रखता है जिससे कि कार्य करनेमें रुक जाय।

भावार्थ—जो स्वय समर्थ होता है वह अपने कार्यमें किसीकी मदद नहीं चाहता है, क्योंकि मददकी जरूरत उसीको होती है जो समर्थ नहीं होता है, इसलिए उसको निरन्तर कार्यकरना चाहिए।

यदि यह कहो कि सहकारी कारणोंके मिलजाने परही वह (पदार्थ) कार्य करता है तोः—

परापेक्षणे परिणामित्वमन्यथा तदभावात्॥६४॥

भाषार्थ—दूसर पदार्थोंकी अपेक्षा रखनेसे वह परिणामी माना जायगा, क्योंकि परिणामीपनेके विना यह हो ही नहीं सकता है, कि एकाकी तो कार्य न करें और मिलकर कार्य करें।

भावार्थ—जो पहले कार्य नहीं करता था वह यदि किन्हीं कारणोंके मिलने पर कार्य करने लगजाय, तो यही कहना होगा, कि यह कार्यरूप परिणत होगया है अर्थात् पहले कार्यरूप परिणत नहीं था और अब होगया है, बस, इसीको परिणामीपना कहते हैं।

अब दूसरे असमर्थपक्षका खण्डन करते हैंः—

स्वयमसमर्थस्याकारकत्वात्पूर्ववत् ॥६५॥

भाषार्थ—जो स्वय असमर्थ है वह कार्योंको कर ही नहीं सकता है क्योंकि वह कार्य करनेवाला नहीं है, जैसे उसी की पहली अवस्था (हालत)।

भावार्थ—जो स्वय असमर्थ है वह तो सहकारी मिलने पर भी किसी कार्यको नहीं कर सकता है।

इसप्रकार विषयाभासका वर्णन हुआ।

अब फलाभासका वर्णन करते हैंः—

फलाभासं प्रमाणादभिन्नं भिन्नमेववा ॥६६॥

भाषार्थ—प्रमाणसे फल (अज्ञानकी निवृत्ति) को सर्वथा भिन्न ही तथा सर्वथा अभिन्न ही मानना, फलाभास है।

अब पहले सर्वथा अभेदपक्षमें दूषण दिखाते हैं:—

अभेदे तद्व्यवहारानुपपत्तेः ॥ ६७ ॥

भावार्थ—यदि प्रमाणसे फल सर्वथा अभिन्न ही माना जायगा, तो यह प्रमाण है तथा यह फल है, इसप्रकार भिन्न व्यवहार नहीं बन सकेगा।

यदि कहो कि हम (बौद्ध) कल्पनासे प्रमाण और फल का व्यवहार कर लेवगे, सो भी नहीं बन सकता है:—

व्यावृत्यापि न तत्कल्पना फलान्तराद्व्यावृत्याऽफलत्वप्रसंगात् ॥ ६८ ॥

भावार्थ—अफलकी व्यावृत्तिसे भी, फलकी कल्पना नहीं होसकती है, क्योंकि जिसप्रकार अफलकी व्यावृत्तिसे फलकी कल्पना होगी, उसीप्रकार दूसरे समान जातिवाले फलकी व्यावृत्तिसे अफल की ही कल्पना क्यों न हो जायगी ?

भावार्थ—कल्पनामात्रसे फल व्यवहार नहीं होसकता है।

उसीमें दृष्टान्त देते हैं:—

प्रमाणान्तराद्व्यावृत्येवाप्रमाणत्वस्य ॥ ६९ ॥

भावार्थ—जिसप्रकार दूसरे समान जातिवाले प्रमाणकी व्यावृत्तिसे अप्रमाणता माननी पडती है।

भावार्थ—बौद्ध, अप्रमाणसे व्यावृत्तिरूप प्रमाणको मानते है वहा पर यह दोष उपस्थित होता है कि जिसतरह अप्रमाणकी व्यावृत्तिसे प्रमाण कहना चाहते हो उसीतरह, दूसरे प्रमाण

की, व्यावृत्तिसे अप्रमाण भी क्यों नहीं कह देते, बस, इसीका दृष्टान्त यहां दे दिया है।

इन दोषोंके दूर करनेके लिये भेदपक्ष मानना चाहिये। सो ही कहते हैः—

तस्माद्वास्तवो भेदः ॥ ७० ॥

भाषार्थ—इसलिये प्रमाण और फलमें वास्तव भेद है।

यहां नैयायिक कहता है कि फिर सर्वथा भेद ही मान लेना चाहिये। उसके उत्तरमें आचार्य कहते हैः—

भेदे त्वात्मान्तरवत्तदनुपपत्तेः ॥ ७१ ॥

भाषार्थ—सर्वथा भेद पक्षमें अर्थात् प्रमाणसे फलको सर्वथा भिन्न मानने में यह दोष आता है कि जिसतरह दूसरी आत्माके प्रमाणका फल, वैसे ही हमारी आत्माके प्रमाणका फल, दोनों बराबर ही हो जायगे। फिर यह फल, हमारे प्रमाण का है और दूसरेकी आत्माके प्रमाणका नहीं, यह कैसे हो सकता है। कहनेका प्रयोजन यह है कि दूसरी आत्माके प्रमाणका फल जैसे हमारी आत्माके प्रमाणका फल नहीं कहलाता है उसीतरह सर्वथा भिन्न होनेसे हमारी आत्माके प्रमाणका फलभी हमारा नहीं कहलावेगा।

भावार्थ—सर्वथा भेदमें यह नहीं हो सकता है कि यह अमुक का है क्योंकि ऐसा किसी न किसी सम्बन्ध होने परहीं होता है, नहीं तो सह्याचलपर्वतका विन्ध्याचलपर्वत भी क्यों न कहा जायगा।

फिर भी नैयायिक कहता है कि जिस आत्मामें प्रमाण

समवायसम्बन्धसे रहेगा, उसीमें फलभी समवायसे रहेगा; तव तो समवायरूप प्रत्यासत्ति (सम्बन्ध) से इस प्रमाणका यह फल है ऐसी व्यवस्था होजायगी। आचार्य उत्तर देते हैं:—

समवायेऽतिप्रसङ्गः ॥ ७२ ॥

भाषार्थ—यदि समवाय मान कर दोष वारण करोगे, तो अतिप्रसंग होजायगा अर्थात् तुम्हारे यहां समवाय नित्य और व्यापक पदार्थ माना गया है फिर उससे यह निर्णय कैसे होगा, कि इसी आत्मामें यह प्रमाण अथवा फल समवायसम्बन्धसे रहता है दूसरी आत्मामें नहीं?

भावार्थ—जब समवाय नित्य और व्यापक है अर्थात् हमेशह और सब जगह रहता है, तो उससे यह निर्णय नहीं होसकता, कि अमुक आत्माके प्रमाणका यह फल है अन्यका नहीं।

अब अपने पक्षके साधनकी तथा परके पक्षमें दूषण देनेकी व्यवस्थाको दिखाते हैं:—

प्रमाणतदाभासौ दुष्टतयोद्भावितौ परिहृतापरिहृतदोषौ वादिनः साधनतदाभासौ प्रतिवादिनो दूषणभूषणे च ॥ ७३ ॥

भाषार्थ—वादीने प्रमाण बोला, उसका प्रतिवादीने दुष्टतासे उद्भावन कर दिया, पीछे यदि वादीने परिहार कर दिया तो वादीके लिए वह साधन हो जायगा और प्रतिवादीके लिए दूषण हो जायगा। और जब वादीने प्रमाणाभास बोला, उसका प्रतिवादीने दुष्टतासे उद्भावन कर दिया और फिर यदि वादीने उसका

परिहार नहीं कर पाया तो वादीके लिए वह साधनाभास हो जायगा और प्रतिवादीके लिए भूषण हो जायगा।

भावार्थ—जो अपने पक्ष पर आए हुए दूषणोंका परिहार करके अपने पक्षको सिद्ध कर देगा उसीकी विजय होगी और दूसरे का पराजय होगा। अपने पक्षको सिद्ध कर लेना और परके पक्षमें दूषण दे देना, यही प्रमाण और प्रमाणाभास जाननेका फल है।

प्रमाणकी परीक्षा करके अब यह दिखाते हैं कि नयादि तत्वोंका स्वरूप दूसरे ग्रन्थोंमें कहा है:—

सम्भवदन्यद्विचारणीयम् ॥ ७४ ॥

भाषार्थ—प्रमाणसे भिन्न, नयादि तत्वोंका स्वरूप दूसरे शास्त्रोंसे जानना चाहिये। मूल नय दो हैं एक द्रव्यार्थिक दूसरा पर्यायार्थिक। उनमें भी द्रव्यार्थिकनय के तीन भेद हैं। नैगम, संग्रह और व्यवहार। पर्यायार्थिकनयके चार भेद हैं। ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत।

अन्तिम परिच्छेदका सारांश।

इस परिच्छेदमें प्रमाणाभास, प्रत्यक्षाभास, परोक्षाभास, स्मरणाभास, प्रत्यभिज्ञानभास, तर्काभास और अनुमानाभासके भेद, पक्षाभास, हेत्वाभास, दृष्टान्ताभास, बालप्रयोगाभास तथा आगमाभास और प्रमाणसंख्याभास, प्रमाणविषयाभास, तथा प्रमाणफलाभासका वर्णन है। यहां आभास नाम झूठे का जानना चाहिये। पीछे जिनका निर्णय हो चुका है वे प्रमाण सच्चे हैं क्योंकि उनमें कोई दोष नहीं आता